Registration No. V-36244/2008-09 **ISSN :- 2350-0611**

The journal has been listed in 'UGC Approved List of Journals' with Journal No. – 48441 in previous list of UGC

JIFE Impact Factor – 5.23

Research Highlights

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal

Editor
Dr. Kamlesh Kumar Singh
Assistant Professor
Department of Sociology
Pt. D.D.U. Govt. Girls P.G. College
Sevapuri, Varanasi

Volume - XII **No. - 4** **(Oct. – Dec. 2025)**

(Part – III)

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

Research Highlights - *A Referred Journal, Published by : Quarterly*

Correspondence Address :
C 4/270, Chetganj
Varanasi, (U.P.)
Pin. - 221 010
Mobile No. :- 09336924396
Email- researchhighlights1@gmail.com

Note :-

The views expressed in the journal "Research Highlights" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Managing Editor
Avinash Kumar Gupta

©Publisher

ISSN : 2350-0611

Printed by
Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

ADVISORY BOARD

- **Prof. T. N. Singh,** United Nations Professor of Plant Physiology, Department of Plant Sciences, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Prof. S.K. Bhatnagar,** School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. (Dr.) Munna Singh**, Head of Department, Physical Education and Sports Sciences Department, Handia P.G. College, Handia, Prayagraj, U.P.
- **Dr Achchhe Lal Yadav**, Assistant Professor, Physical Education, Pt. D. D. U. Government Degree College, Saidpur, Ghazipur
- **Dr. Pramod Rao,** Assistant Professor, Department of Hindi, VBS Purvanchal University, Jaunpur
- **Dr. Anil Pratap Giri,** Assistant Professor, Department of Sanskrit, Pondicherry Central University, Pondicherry.

EDITORIAL BOARD

- **Dr. Sanjay Singh,** Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan,** Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Shailendra Singh,** Professor and Head, Department of Sociology, J.S. University, Sikohabad, U.P.
- **Dr. Manish Arora,** Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya,** Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray,** Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi,** Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh,** Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Satyapal Yadav,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Brajesh Kumar Prasad,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Dewendra Pratap Tiwari,** Assistant Professor, Department of Political Science, Shree Lakshmi Kishori Mahavidyalaya (A Constituent Unit of BRA Bihar University, Muzaffarpur), Bihar

- **Dr. Hena Hussain,** Assistant Professor, Department of Psychology, Oriental College, Patna City (A Constituent Unit of Patliputra University, Patna), Bihar
- **Dr. Santosh Kumar Singh,** Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh,** Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur
- **Dr. Girish Kumar Tiwari,** Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Vaibhav Kaithvas,** Assistant Professor, Department of Performing Art, Eklavya University, Sagar Road, Damoh, MP
- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan,** Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey,** Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi

EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Research Highlights,** a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

Note: All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

Editor

CONTENTS

"Research Highlights"

➲	दुष्यंत कुमार तथा फैज अहमद फैज की गजलों में लोकतांत्रिक मोहभंग तथा प्रतिरोध का स्वर ***सबा नूर***	01-05
➲	मीरा की कविताः मध्यकालीन भारत में स्त्री स्वाधीनता का घोषणापत्र ***सुमित कुमार यादव***	06-10
➲	विजयदेव नारायण साही : राजनीति और साहित्य ***सचिन कुमार***	11-15
➲	बिहार में गरीबी निवारण कार्यक्रम का बदलता स्वरुप : एक अध्ययन ***अभिषेक कुमार*** ***डॉ. विवेक प्रकाश सिंह***	16-21
➲	लोकतन्त्र और अधिनायकवाद ***श्री गुलाब चन्द्र***	22-25
➲	विलाप–काव्यों में वर्णित मार्मिकता ***डॉ. नेहा***	26-28
➲	माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण में संबंध का अध्ययन ***डॉ. राजेन्द्र कुमार जायसवाल***	29-32
➲	सम्राट अशोक के स्तम्भ अभिलेखों में प्रशासनिक उत्तरदायित्व एवं लोक नैतिकता ***मोहम्मद खुर्शीद*** ***डॉ. मो. वाकिफ***	33-36
➲	प्राचीन भारतीय इतिहास में हिन्दू धार्मिक दर्शन के विचारधारा ***डॉ. जितेन्द्र कुमार कंचन***	37-40
➲	गठबंधन सरकारों और राजनीतिक अस्थिरताः एक व्यापक अध्ययन ***डॉ. राजमणि कुमारी***	41-45
➲	उत्तर प्रदेश की चित्रकला में रंग–प्रतीक और भाव–मनःस्थिति ***चन्दा यादव***	46-49
➲	आजाद भारत में शिक्षा नीतियों का बदलता स्वरूप ***कुलदीप***	50-55
➲	पंडित गेंदा लाल दीक्षित और उत्तर भारत में क्रांतिकारी चेतना का उदय ***अभिषेक दौनेरिया***	56-60
➲	मनुष्यता का जयघोष : हजारीप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा दृष्टि ***अश्वनी कुमार मिश्र***	61-67

दुष्यंत कुमार तथा फैज अहमद फैज की गजलों में लोकतांत्रिक मोहभंग तथा प्रतिरोध का स्वर

सबा नूर*

सारांश (Abstract)

फैज़ अहमद फैज़ उर्दू काव्य-परंपरा के उस स्थान पर खड़े हैं जहाँ क्लासिकी सौंदर्यबोध और आधुनिक प्रगतिशील चेतना का गहरा संगम होता है। उनके लिए 'इंकलाब' केवल एक राजनैतिक नारा नहीं, बल्कि एक रूहानी और रूमानी अनुभव है। वे मार्क्सवादी विचारधारा को 'हुस्न-ओ-इश्क़' के मखमली प्रतीकों में पिरोकर एक 'रूमानी विद्रोह' की रचना करते हैं, जहाँ व्यक्तिगत पीड़ा और सामाजिक संघर्ष एक-दूसरे में घुलमिल जाते हैं। दूसरी ओर, दुष्यंत कुमार हिंदी ग़ज़ल के उस प्रस्थान-बिंदु के प्रतीक हैं जिन्होंने कविता को अभिजात्य दीवानखानों की विलासिता और व्यक्तिगत कुंठाओं से मुक्त कर 'जन-आकांक्षा' की प्रखर आवाज़ बनाया। दुष्यंत के यहाँ फैज़ जैसी लयात्मक कोमलता के स्थान पर यथार्थ की खुरदराहट और सीधे संवाद का तेवर है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय उपमहाद्वीप में स्वतंत्रता के पश्चात उभरे राजनैतिक संकटों, सत्ता के केंद्रीकरण और सामाजिक विषमता ने जनमानस में जिस निराशा को जन्म दिया, इन दोनों कवियों ने उसे अपनी शायरी का मुख्य आधार बनाया। फैज़ और दुष्यंत दोनों ही 'प्रतिबद्ध' रचनाकार होने के बावजूद अपने सौंदर्यबोध और अभिव्यक्ति शैली में भिन्न हैं। फैज़ अहमद फैज़ उर्दू की क्लासिकी परंपरा के भीतर मार्क्सवादी चेतना का समावेश करते हैं। वे क्रांति को रूमानियत के साथ जोड़कर एक 'रूमानी विद्रोह' की सृष्टि करते हैं, जहाँ 'इश्क' और 'इंकलाब' एक-दूसरे के पूरक बन जाते हैं। इसके विपरीत, दुष्यंत कुमार ने ग़ज़ल को दरबारी संस्कृति से मुक्त कर उसे आम आदमी की राजनैतिक बेचैनी और गुस्से से जोड़ा। उन्होंने हिंदी ग़ज़ल को एक नया मुहावरा दिया, जिसमें प्रतीकों की कोमलता के स्थान पर यथार्थ की खुरदराहट और सीधा प्रहार है।

बीज शब्द – लोकतांत्रिक मोहभंग, प्रतिरोध, जनवादी चेतना, रूमानियत, व्यवस्था विरोध, साये में धूप, इंकलाब।

साहित्य और समाज के अटूट अंतःसंबंधों के आलोक में यदि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय और पाकिस्तानी परिदृश्य का अवलोकन किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि साहित्यकार ने सदैव अपने समय की विडंबनाओं को वाणी दी है। हिंदी और उर्दू साहित्य में 'ग़ज़ल' विधा एक लंबे समय तक श्रृंगारिक और रोमानी अनुभवों तक ही सीमित रही, जहाँ प्रेम, साकी और तसव्वुर की प्रधानता थी। किंतु, स्वतंत्रता के पश्चात जिस 'स्वप्निल समाज' की परिकल्पना की गई थी, वह धीरे-धीरे 'दुःस्वप्न' में तब्दील होने लगी। 15 अगस्त 1947 को मिली आज़ादी के साथ ही सामान्य जनता के मन में नवीन आशाओं का संचार हुआ था, लेकिन शीघ्र ही राजनेताओं के वादे झूठे साबित होने लगे और आम जनता का लोकतांत्रिक व्यवस्था से मोहभंग होने लगा इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में 'मोहभंग' केवल एक शब्द नहीं, बल्कि उस हताशा का प्रतीक बना जहाँ आम जनता रोटी, कपड़ा और मकान जैसी बुनियादी समस्याओं के लिए भी तरसती रही थी। मोहभंग केवल व्यवस्था के प्रति निराशा नहीं है, बल्कि यह उस यथार्थ की पहचान है जो सत्ता के चिकने चेहरों के पीछे छिपा होता है। आज़ादी के साथ ही सामान्य जनता के मन में जो नवीन आशाओं का संचार हुआ था, वह राजनेताओं के झूठे वादों, भ्रष्टाचार और पूँजीवादी स्वार्थों की भेंट चढ़ गया। मोहभंग एक सामाजिक जागृति है, न कि केवल हताशा। जब जनता सत्ता के वास्तविक चरित्र को पहचान लेती है, तब उसका भ्रम टूटता है। यह स्थिति दुखद अवश्य है, परंतु यही समझ आगे चलकर परिवर्तन और सच्ची लोकतांत्रिक चेतना का आधार बनती है।

स्वतंत्रता के बाद राजनेताओं का चरित्र भ्रष्ट हो चुका था और वे प्रजातंत्र के नाम पर आम जनता का शोषण कर रहे थे। समाज में शोषक और शोषित वर्ग के बीच की खाई बढ़ती जा रही थी और राजनीतिक पदों पर बैठे लोग विभिन्न प्रकार के मुखौटे धारण कर जनता को छल रहे थे। दुष्यंत की काव्य-चेतना इसी जड़ व्यवस्था को उखाड़ फेंकने और जनता की सुप्त संवेदनाओं को जागृत करने के लिए प्रतिबद्ध है। वे उन लोगों पर भी तीखा कटाक्ष करते हैं जो अभावों में जीना इस कदर सीख चुके हैं कि कमीज न होने पर घुटनों से पेट ढकने को ही अपनी नियति मान लेते हैं। यह मोहभंग केवल व्यवस्था के प्रति नहीं, बल्कि उस सामूहिक चुप्पी के प्रति भी है जो अन्याय को सहने की आदी हो चुकी है। फ़ैज़ और दुष्यंत का तुलनात्मक अनुशीलन इसी सत्य को उद्घाटित करता है कि दोनों कवियों ने अपनी लेखनी के माध्यम से उस अमानवीय सन्नाटे को तोड़ने का प्रयास किया, जहाँ आम आदमी केवल एक 'झुनझुना' बनकर रह गया था जिसे सत्ता जब चाहे अपने स्वार्थ के लिए बजा सकती दी।

इसी संक्रमण काल में दुष्यंत कुमार और फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने ग़ज़ल को महबूब के घेरे से निकालकर व्यवस्था के विरुद्ध एक सशक्त हथियार के रूप में प्रतिष्ठित किया। उर्दू साहित्य और विशेषकर उर्दू ग़ज़ल के क्षेत्र में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ का योगदान युगांतरकारी

* शोधार्थी– जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली E-mail – sbanorr.1998@gmail.com

माना जाता है। उन्होंने ग़ज़ल की उस पारंपरिक ज़मीन को, जो सदियों से केवल 'गमे-जानाँ' (महबूब के दुख) और 'इश्क' के रूमानी गलियारों में कैद थी, एक नया सामाजिक और राजनीतिक आयाम प्रदान किया। फ़ैज़ ने प्रेम की शब्दावली का उपयोग करके व्यवस्था के क्रूर सच को बयान करने की एक अनूठी कला विकसित की। जहाँ उर्दू शायरी तीन-चार शताब्दियों तक साकी, मकतबे-इश्क, शराब और बुलबुल जैसे प्रतीकों में सिमटी रही, फ़ैज़ ने उन्हीं प्रतीकों को 'इंकलाब' और 'प्रतिरोध' का माध्यम बना दिया। डॉ. इबादत बरेलवी के अनुसार, **"फ़ैज़ ने ग़ज़ल की रूमानी रिवायत को तोड़ा नहीं, बल्कि उसमें जदीद (आधुनिक) सियासी और सामाजिक शहूर (चेतना) को इस तरह जज़्ब किया कि वह एक नए इंकलाबी लहजे की शायरी बन गई।"**[1] फ़ैज़ के यहाँ रोमानी एहसास और इंकलाबी सोच एक साथ चलते हैं। उनकी नज़्मों और ग़ज़लों में प्रेम की कोमलता भी है और अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध की तीव्रता भी। फ़ैज़ ने ग़ज़ल की परंपरा को तोड़ा नहीं, बल्कि उसे नई दिशा दी। उन्होंने रूमानी शायरी को व्यापक मानवीय संदर्भों से जोड़कर उसे आधुनिक युग के अनुरूप बना दिया। इसलिए डॉ. इबादत बरेलवी की यह परिभाषा फ़ैज़ की काव्य-विशेषता को स्पष्ट रूप से व्यक्त करती है। इसी प्रकार मजनूँ गोरखपुरी ने फ़ैज़ के विषय में लिखा है, **"फ़ैज़ की शायरी का सबसे बड़ा कमाल यह है कि उन्होंने इश्किया शायरी के प्रतीकों को बड़ी ख़ूबसूरती से कौमी और इंसानी दुखों में बदल दिया है।"**[2] फ़ैज़ ने प्रेम को एक व्यापक मानवीय संवेदना के रूप में प्रस्तुत किया। उनके यहाँ महबूब कभी मातृभूमि का रूप ले लेता है, तो कभी पीड़ित मानवता का। वे इश्क़ को इंसानियत और आज़ादी के संघर्ष से जोड़ देते हैं। यही कारण है कि उनकी शायरी में कोमलता और क्रांति, दोनों का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। मजनूँ गोरखपुरी का यह कथन फ़ैज़ की शायरी की सबसे बड़ी विशेषता को उजागर करता है। उन्होंने पारंपरिक शायरी के प्रतीकों को नया अर्थ और नई दिशा दी। इस प्रकार उनकी शायरी केवल प्रेम की अभिव्यक्ति न रहकर एक युगीन चेतना की आवाज़ बन गई। इसी प्रकार हिंदी साहित्य में दुष्यंत कुमार ने महसूस किया कि स्वतंत्रता के पश्चात देश की सामाजिक परिस्थिति में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आया और मज़दूर आज भी पूँजीपतियों द्वारा शोषित हो रहे हैं। उन्होंने ग़ज़ल को दरबारी विलासिता और व्यक्तिगत रूमानी अनुभवों के संकुचित घेरे से बाहर निकालकर आम आदमी के संघर्ष, लोकतांत्रिक विसंगतियों और व्यवस्था के विरुद्ध एक सशक्त प्रतिरोध के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनकी ग़ज़लें भारतीय राजनीति में आई विसंगतियों और व्यवस्था की विद्रूपता का जीवंत दस्तावेज़ हैं। जहाँ पारंपरिक उर्दू शायरी सदियों तक 'गमे-जानाँ' में कैद रही, वहीं दुष्यंत ने शायर को सीधे व्यवस्था से टकराना सिखाया उन्होंने अपनी संवेदनाओं को उन लोगों के साथ जोड़ा जो अन्याय, अत्याचार और भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ चुके थे। उनके लिए लोकतंत्र का अर्थ केवल मतदान नहीं, बल्कि उस 'चराग़' की उपलब्धता थी जो आज़ादी के समय हर घर के लिए तय था, लेकिन हकीकत में पूरे शहर के लिए भी मयस्सर नहीं हो सका। आलोचक डॉ. रणजीत लिखते हैं कि **"प्रगतिशील जनवादी भाव और विचार सूत्रों से संग्रहित उनकी गज़लों के अनेक शेर सूक्तियों और मुहावरों की तरह प्रबुद्ध लोगों की जुबान पर चढ़ गए हैं"**[3] यह उनके कालजयी योगदान का सबसे बड़ा प्रमाण है। यह किसी भी कवि की सबसे बड़ी सफलता होती है कि उसकी रचना केवल पुस्तक तक सीमित न रहे, बल्कि जनमानस का हिस्सा बन जाए। दुष्यन्त कुमार की ग़ज़लों ने हिंदी साहित्य में एक नई दिशा दी और ग़ज़ल को अभिजात्य दायरे से निकालकर जन-जीवन से जोड़ा। उनकी ग़ज़लें केवल साहित्यिक रचना नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना की जीवंत अभिव्यक्ति हैं।

दोनों कवियों की ग़ज़लों में मोहभंग का स्वर सबसे गहरा और बहुस्तरीय है। फैज़ की उर्दू ग़ज़लें पारंपरिक शैली में प्रेम के प्रतीकों के माध्यम से मोहभंग व्यक्त करती हैं, जबकि दुष्यंत की हिंदी ग़ज़लें सीधी, जन-भाषा में सत्ता की आलोचना करती हैं। फैज़ का मोहभंग पाकिस्तान की आजादी (1947) के बाद के भ्रष्टाचार, सैन्य शासन और लोकतंत्र की हत्या से उपजा है, जो उनकी जेल-ग़ज़लों (दस्त-ए-सबा और ज़िंदान-नामा) में प्रतिबिंबित होता है। दुष्यंत का मोहभंग 1975 के आपातकाल से जुड़ा है, जब इंदिरा गांधी के शासन ने संविधान को निलंबित कर दिया। दोनों में 'प्रेम' और 'इंतज़ार' मोहभंग के प्रतीक बन जाते हैं, किंतु फैज़ में यह सूक्ष्म और प्रतीकात्मक है, जबकि दुष्यंत में प्रत्यक्ष और क्रोधपूर्ण।

फैज़ की प्रसिद्ध ग़ज़ल "तुम आए हो न शब-ए-इंतिज़ार गुज़री है" मोहभंग की उत्कृष्ट मिसाल है। यहां 'तुम' प्रेमिका के रूप में क्रांति या आजादी का प्रतीक है:

"तुम आए हो न शब-ए-इंतिज़ार गुज़री है
तलाश में है सहर बार बार गुज़री है
जुनूँ में जितनी भी गुज़री ब-कार गुज़री है
अगरचे दिल पे ख़राबी हज़ार गुज़री है
हुई है हज़रत-ए-नासेह से गुफ़्तुगू जिस शब
वो शब ज़रूर सर-ए-कू-ए-यार गुज़री है

वो बात सारे फ़साने में जिस का ज़िक्र न था
वो बात उन को बहुत ना-गवार गुज़री है
न गुल खिले हैं न उन से मिले न मय पी है
अजीब रंग में अब के बहार गुज़री है
चमन पे ग़ारत-ए-गुल-चीं से जाने क्या गुज़री
क़फ़स से आज सबा बे-क़रार गुज़री है"[4]

मतला में 'तुम' क्रांति या आजादी का प्रतीक है। फैज़ कहते है कि इंतज़ार की रात तो गुज़र गई, किंतु 'सहर' (लोकतंत्र की सुबह) बार-बार तलाश के बावजूद नहीं आई। 'जुनूँ' प्रगतिशील आंदोलन का क्रांतिकारी जुनून है, जो 'ब-कार' (व्यर्थ) गया। तीसरा शेर 'नासेह' (उपदेशक = शासन) से गुफ़्तुगू का संकेत है। चौथा शेर मोहभंग का चरम है—वो बात जो फसाने में भी नहीं थी (लोकतंत्र की हत्या), वह ना-गवार गुज़री। पाँचवाँ शेर 'बहार' (आज़ादी) को अजीब रंग में दिखाता है। फैज़ ने यह ग़ज़ल जेल-काल या उसके बाद लिखी, जब पाकिस्तान में सैन्य शासन ने प्रगतिशील सपनों को कुचल दिया यह ग़ज़ल केवल अपने समय की राजनीतिक निराशा नहीं, बल्कि हर उस दौर की आवाज़ है जब आदर्श सत्ता के सामने पराजित होते दिखाई देते हैं। फिर भी, ग़ज़ल के स्वर में पूर्ण निराशा नहीं, बल्कि एक बेचैन उम्मीद छिपी है—क्योंकि 'सबा' अभी भी बे-क़रार है—अर्थात परिवर्तन की संभावना शेष है। यह बेचैनी ही आशा का सूक्ष्म संकेत है।

इसकी प्रकार दुष्यंत कुमार की ग़ज़लों में 'मोहभंग' केवल एक विषय नहीं, बल्कि उनकी पूरी काव्य-चेतना का आधार है। 1970 के दशक के राजनीतिक और सामाजिक परिवेश में, जहाँ मोहभंग की यह भावना अपने चरम पर थी, दुष्यंत ने आम आदमी की हताशा को शब्दों में पिरोया।

"कहाँ तो तय था चिरागाँ हर एक घर के लिए
कहाँ चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए
यहाँ दरख़्तों के साये में धूप लगती है
चलो यहाँ से चले और उम्र भर के लिए..."[5]

दुष्यंत कुमार की इन पंक्तियों में मोहभंग का अर्थ आज़ादी के बाद के सुनहरे सपनों का हकीकत के धरातल पर बिखर जाना है। कवि उस गहरी निराशा को व्यक्त करता है जहाँ सत्ता ने हर घर को रोशन करने का वादा किया था, पर वास्तविकता में पूरा शहर अंधेरे में डूबा हुआ है। यहां दरख्तों के साये में धूप लगती है। दरख़्त आमतौर पर सुरक्षा और छाँव का प्रतीक होते हैं, जिन्हें समाज में लोक-कल्याणकारी संस्थाओं (अदालत, पुलिस, प्रशासन) के रूप में देखा जा सकता है। परंतु, जब ये रक्षक ही भक्षक बन जाएं और सहारा देने के बजाय शोषण करने लगें, तो आम आदमी का व्यवस्था पर से विश्वास पूरी तरह उठ जाता है।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की "सुबह-ए-आज़ादी" केवल एक नज़्म नहीं, बल्कि विभाजन के समय उपजे उस गहरे मोहभंग की चीख है, जिसने आज़ादी के उत्सव को मातम में बदल दिया था। स्वतंत्रता के बाद पाकिस्तान में सैन्य शासन और लोकतंत्र की हत्या ने फैज़ को मोहभंग से भर दिया। अगस्त 1947 का वह सवेरा, जिसे करोड़ों आँखों ने एक सुनहरे भविष्य के रूप में देखा था, फ़ैज़ की नज़रों में 'दाग़दार' और 'रात का डसा हुआ' था।

"दाग़ दाग़ उजाला, ये शबगज़ीदा सहर
वो इन्तज़ार था जिस का, ये वो सहर तो नहीं
ये वो सहर तो नहीं जिस की आरज़ू लेकर
चले थे यार कि मिल जायेगी कहीं न कहीं
फ़लक के दश्त में तारों की आख़री मंज़िल
कहीं तो होगा शब-ए-सुस्त मौज् का साहिल"[6]

'दाग़ दाग़ उजाला' विरोधाभास का बेहतरीन उदाहरण है। उजाला तो हुआ है, लेकिन वह साफ नहीं है। वह विभाजन की हिंसा, सांप्रदायिकता और नफ़रत के दागों से भरा हुआ है। फ़ैज़ ने 'शबगज़ीदा सहर' (रात की डसी हुई सुबह) जैसे शब्दों का प्रयोग कर यह स्पष्ट किया कि अँधेरा पूरी तरह छँटा नहीं है। तारों की 'आख़री मंज़िल' अभी नहीं मिली है और न ही उन 'सुस्त लहरों' को कोई साहिल (किनारा) नसीब हुआ है। यह मोहभंग इस बात का प्रमाण है कि आज़ादी मिलने के बाद भी आम आदमी की बेबसी और दुख कम नहीं हुए थे। यह रचना एक चेतावनी है कि जब तक समाज में न्याय और वास्तविक लोकतंत्र नहीं आता, तब तक हर सुबह 'दाग़दार' ही रहेगी। फ़ैज़ का यह मोहभंग निराशा का नहीं, बल्कि संघर्ष को जारी रखने का आह्वान है। फ़ैज़ का काव्य-सौंदर्य इस बात में है कि वे केवल विलाप नहीं करते। वे कहते हैं कि "तारों की आखिरी मंज़िल" अभी नहीं आई है। यानी वे अपने साथियों को प्रेरित कर रहे हैं कि

आज़ादी का मतलब केवल झंडा बदलना नहीं है, बल्कि उस व्यवस्था को बदलना है जहाँ हर इंसान आज़ाद महसूस करे। इस नज़्म को **'तरक्कीपसंद तहरीक' (Progressive Writers' Movement)** का घोषणापत्र माना जाता है क्योंकि यह सत्ता की चापलूसी के बजाय जनता के सच को स्वर देती है।

दुष्यंत ने ग़ज़ल को हिंदी में जन-भाषा दी। उनकी प्रसिद्ध ग़ज़ल "हो गई है पीर पर्वत-सी पिघलनी चाहिए" पूर्ण रूप से लोकतांत्रिक मोहभंग और प्रतिरोध का प्रतीक है

"हो गई है पीर पर्वत सी पिघलनी चाहिए
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए
आज ये दीवार पर्दों की तरह हिलने लगी
शर्त लेकिन थी कि ये बुनियाद हिलनी चाहिए
हर सड़क पर हर गली में हर नगर हर गाँव में
हाथ लहराते हुए हर लाश चलनी चाहिए
सिर्फ़ हंगामा खड़ा करना मिरा मक़्सद नहीं
मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए
मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही
हो कहीं भी आग लेकिन आग जलनी चाहिए"[7]

1974-75 का वह कालखंड, जो अंततः आपातकाल की घुटन में तब्दील हुआ, स्वतंत्र भारत के इतिहास में लोकतंत्र की हत्या का सबसे काला अध्याय माना जाता है। जनता का दुख अब अपनी चरम सीमा पार कर चुका है और जड़ता को तोड़ने के लिए अब 'हिमालय से गंगा' का निकलना यानी एक बड़े व्यवस्था-परिवर्तन का होना अनिवार्य है। वे केवल सत्ता की ऊपरी सतह या 'दीवार' के हिलने से संतुष्ट नहीं हैं, बल्कि उस भ्रष्ट तंत्र की 'बुनियाद' को हिला देने की शर्त रखते हैं जिसने लोकतंत्र को बंधक बना लिया था। 'हर लाश' के चलने का आह्वान उस मृतप्राय हो चुकी नागरिक चेतना को जगाने की पुकार है, जो दमन के साये में अपनी आवाज़ खो चुकी थी। दुष्यंत का मुख्य उद्देश्य केवल हंगामा या शोर मचाना नहीं, बल्कि व्यवस्था की 'सूरत' बदलना है। अंततः, **"हो कहीं भी आग लेकिन आग जलनी चाहिए"** के माध्यम से वे एक ऐसी वैचारिक क्रांति की मशाल जलाते हैं जो व्यक्ति से ऊपर उठकर सामूहिक चेतना का हिस्सा बन जाती है। यह ग़ज़ल सिद्ध करती है कि जब शासन की नीतियां 'पीड़ा' बन जाएं, तो कवियों की कलम विद्रोह का शंखनाद बन जाती है।

जहाँ फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की "सुबह-ए-आज़ादी" में एक उदास और रूमानी विलाप था, वहीं दुष्यंत कुमार की इस ग़ज़ल में 'आक्रामक विद्रोह' है। फ़ैज़ मंज़िल के न मिलने पर दुखी हैं, जबकि दुष्यंत मंज़िल को छीन लेने के लिए संघर्ष का आह्वान कर रहे हैं।

फैज़ अहमद फैज़ की ग़ज़ल "हम देखेंगे" केवल कविता नहीं, बल्कि अन्याय के विरुद्ध दुनिया भर में गूँजने वाला एक शक्तिशाली नारा है। यह 1979 में लिखी गई थी, जब पाकिस्तान में जनरल जिया-उल-हक का सैन्य शासन था। वह दौर अभिव्यक्ति की आज़ादी पर कड़े प्रतिबंधों और दमन का था। जिया-उल-हक ने जुल्फिकार अली भुट्टो की सरकार का तख्तापलट कर सत्ता हथिया ली थी। फ़ैज़ उस समय निर्वासन। उन्होंने यह नज़्म जिया-उल-हक के दमनकारी शासन को चुनौती देने के लिए लिखी थी।

"हम देखेंगे
लाज़िम है कि हम भी देखेंगे
वो दिन कि जिस का वादा है
जो लौह-ए-अज़ल में लिखा है
जब ज़ुल्म-ओ-सितम के कोह-ए-गराँ
रुई की तरह उड़ जाएंगे
हम देखेंगे"[8]

"हम देखेंगे" में प्रतिरोध का स्वर इतना गहरा है कि यह 'ज़ुल्म के पहाड़ों' के रुई की तरह उड़ने और 'तख़्त व ताज' के गिराए जाने की बात कर जनता की संप्रभुता का आह्वान करती है। फ़ैज़ का मानना था कि अंततः न्याय की जीत होगी और सत्ता उन आम लोगों के हाथों में आएगी जिन्हें दबाया गया है। 1986 में लाहौर के एक खचाखच भरे स्टेडियम में इक़बाल बानो द्वारा काली साड़ी (जो उस समय प्रतिबंध का प्रतीक थी) पहनकर इसे गाए जाने के बाद, यह नज़्म केवल पाकिस्तान ही नहीं बल्कि पूरे दक्षिण एशिया में अन्याय और तानाशाही के खिलाफ प्रतिरोध का सबसे बुलंद और सार्वभौमिक गीत बन गई।

दुष्यंत कुमार तानाशाही, अन्याय और आम आदमी की पीड़ा से बेहद बेचैन थे। उन्होंने ग़ज़ल को केवल प्रेम या व्यक्तिगत ग़म का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक-राजनीतिक प्रतिरोध का हथियार बनाया। उनकी ग़ज़लों ने हिंदी ग़ज़ल विधा को ही बदल दिया — अवास्तविक कल्पना से निकालकर कठोर यथार्थ में ला खड़ा किया।

"कैसे मंज़र सामने आने लगे हैं
गाते गाते लोग चिल्लाने लगे हैं
अब तो इस तालाब का पानी बदल दो
ये कँवल के फूल कुम्हलाने लगे हैं
वो सलीबों के क़रीब आए तो हम को
क़ाएदे क़ानून समझाने लगे हैं
एक क़ब्रिस्तान में घर मिल रहा है
जिस में तह-ख़ानों से तह-ख़ाने लगे हैं
मछलियों में खलबली है अब सफ़ीने
इस तरफ़ जाने से कतराने लगे हैं
मौलवी से डाँट खा कर अहल-ए-मकतब
फिर उसी आयात को दोहराने लगे हैं
अब नई तहज़ीब के पेश-ए-नज़र हम
आदमी को भून कर खाने लगे हैं"[9]

इस ग़ज़ल में प्रतिरोध का स्वर अत्यंत प्रखर और बेबाक है, जहाँ कवि 'तालाब का पानी बदलने' की बात कहकर सुधार के बजाय पूरी व्यवस्था के आमूलचूल परिवर्तन की माँग करता है। वे सत्ता के पाखंड पर चोट करते हुए दिखाते हैं कि कैसे दमनकारी शक्तियाँ खुद अपराध कर जनता को 'क़ायदे-क़ानून' का पाठ पढ़ाती हैं। 'कब्रिस्तान में घर' और 'तहखानों' जैसे बिंबों के माध्यम से कवि उस दौर की घुटन, भय और अभिव्यक्ति की आज़ादी पर लगे प्रतिबंधों को उजागर करते हैं। पूरी ग़ज़ल में प्रतिरोध केवल एक विरोध बनकर नहीं रहता, बल्कि वह व्यवस्था की जड़ता को झकझोरने और सोई हुई जनता को उसकी दयनीय स्थिति के प्रति सचेत करने वाला एक क्रांतिकारी आह्वान बन जाता है।

दोनों कवियों ने ग़ज़ल की पारंपरिक कला को सामाजिक-राजनीतिक विद्रोह का सशक्त हथियार बना दिया। फैज़ ने पाकिस्तान के सैन्य तानाशाही शासन के विरुद्ध प्रतीकात्मक, रोमानी और क्रांतिकारी भाषा में लोकतंत्र के अधूरे वादे को उजागर किया—'दाग़-दाग़ उजाला' और 'हम देखेंगे' जैसे शब्दों में निराशा को आशा में बदलते हुए। वहीं दुष्यंत कुमार ने भारतीय आपातकाल के संदर्भ में व्यंग्यपूर्ण, संवादात्मक और जन-केन्द्रित शैली में लोकतंत्र की खोखली कुर्सी-राजनीति पर प्रहार किया—दोनों में गहन समानता इस बात में है कि वे मोहभंग को निराशा का अंत नहीं, अपितु नई चेतना और संघर्ष की शुरुआत मानते हैं। यद्यपि भाषा, सांस्कृतिक संदर्भ और शैलीगत दृष्टिकोण भिन्न हैं, दोनों कवि जन-दुख और सत्ता-दमन के विरुद्ध एक सार्वभौमिक संदेश देते हैं। आज के युग में जब लोकतंत्र विभिन्न रूपों में संकटग्रस्त है—भ्रष्टाचार, सांप्रदायिकता और दमन के बढ़ते स्वरों के बीच—फैज़ और दुष्यंत की रचनाएँ अत्यंत प्रासंगिक हैं। ये हमें स्मरण कराती हैं कि सच्चा लोकतंत्र केवल संस्थाओं में नहीं, बल्कि निरंतर जागरूकता और प्रतिरोध की प्रक्रिया में निहित है। अंततः, इन दोनों महान कवियों की ग़ज़लें सिद्ध करती हैं कि कविता न केवल युग की गवाह है, बल्कि भविष्य की नई सुबह का सबसे सशक्त आह्वान भी है।

संदर्भ सूची

1. इबादत बरेलवी. ग़ज़ल और मुताला-ए-ग़ज़ल. कराची: अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू, 1955. पृष्ठ 498
2. मजनूँ गोरखपुरी. नुक़ूश-ओ-अफ़कार. लखनऊ: सरफ़राज़ प्रेस, 1955. पृष्ठ 134
3. डॉ. रणजीत. हिंदी के प्रगतिशील और समकालीन कवि. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन.पृष्ठ 259-260
4. फ़ैज़ अहमद फ़ैज़. नुस्ख़ा-ए-वफ़ा. लाहौर: मकतबा-ए-करवाँ, 1992. पृष्ठ 132
5. दुष्यंत कुमार. साये में धूप. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008. पृष्ठ 8-9
6. फ़ैज़ अहमद फ़ैज़. नुस्ख़ा-ए-वफ़ा. लाहौर: मकतबा-ए-करवाँ, 1992. पृष्ठ116
7. दुष्यंत कुमार. साये में धूप. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008. पृष्ठ 30
8. फ़ैज़ अहमद फ़ैज़. नुस्ख़ा-ए-वफ़ा. लाहौर: मकतबा-ए-करवाँ, 1992. पृष्ठ 450
9. दुष्यंत कुमार. साये में धूप. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008. पृष्ठ 148

मीरा की कविताः मध्यकालीन भारत में स्त्री स्वाधीनता का घोषणापत्र

सुमित कुमार यादव*

शोध सार

मीराबाई महज एक भक्त कवयित्री नहीं हैं, बल्कि मध्यकाल की उस घुटन भरी जड़ता के बीच पहली ऐसी स्त्री हैं जिन्होंने अपनी आज़ादी का रास्ता खुद चुना। उनका काव्य उस पितृसत्तात्मक ढांचे पर एक बहुत गहरी चोट है, जिसने सदियों से स्त्री के अस्तित्व को 'कुल-मर्यादा' और 'लोक-लाज' की बेड़ियों में जकड़ कर रखा था। सामंती राजवैभव को ठुकराना और महलों की सुख-सुविधाओं को त्यागना कोई साधारण बात नहीं थी; यह उस समय की सत्ता और समाज के खिलाफ एक खुली बगावत थी।

मीरा ने 'भक्ति' को एक ऐसे हथियार की तरह इस्तेमाल किया, जिसके जरिए उन्होंने अपनी स्वाधीनता और आत्मबोध को पाया। जब वे 'अपूठी चाल' यानी समाज की स्थापित लीक से अलग चलने की बात करती हैं, तो वे दरअसल उस पुरुषवादी व्यवस्था को चुनौती दे रही होती हैं जो स्त्री को सिर्फ एक 'वस्तु' की तरह देखती थी। उनके पदों में दर्ज 'ताले और चौकी' की कैद कोई काल्पनिक दुख नहीं है, बल्कि वह उस घरेलू हिंसा का जीवंत दस्तावेज़ है, जिसे उन्होंने एक स्वतंत्र व्यक्तित्व की चाह में झेला था।

आज के दौर में मीरा इसलिए प्रासंगिक हैं क्योंकि जो लड़ाई आज की आधुनिक स्त्री अपनी अस्मिता और आत्मनिर्णय के लिए लड़ रही है, मीरा ने उसे चार शताब्दी पहले न केवल स्वर दिया, बल्कि निर्भय होकर जिया भी। वे दिखाती हैं कि स्वाधीनता कोई दान में मिलने वाली चीज़ नहीं है, बल्कि यह अपने आत्मबल और संघर्ष से अर्जित की जाने वाली स्थिति है। मीरा का 'स्व' आज की स्त्री चेतना का वह मज़बूत आधार है, जहाँ भक्ति और विद्रोह एक-दूसरे में घुलकर नई परिभाषा गढ़ते हैं।

बीज शब्दः स्त्री-चेतना, स्वाधीनता, पितृसत्ता, आत्मनिर्णय, मध्यकालीन सामंतवाद, लोक-लाज, प्रतिरोधी स्वर, आत्मबोध।

मीरा किसी पहचान की मोहताज नहीं हैं।"हिंदी की श्रेष्ठ कवयित्री मीरा का जन्म 1516 में हुआ था। इनके व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द अनेक किंवतियाँ गढ़ ली गई हैं। ये बाबर से मोर्चा लेने वाले महाराणा साँगा की पुत्रवधू और महाराणा कुमार भोजराज की पत्नी थीं।"[1]

राजसी वैभव और सुख-सुविधाओं के बीच रहने के बावजूद, मीरा का मन सांसारिक बंधनों में कभी नहीं रमा और उन्होंने कृष्ण को ही अपना सर्वस्व मान लिया। लोक-लाज और कुल की मर्यादा की परवाह न करते हुए, उन्होंने महलों का त्याग कर साधु-संतों की संगति और भक्ति के मार्ग को चुना।"मीराबाई का नाम भारत के प्रधान भक्तों में है और इनका गुणगान नाभा जी, ध्रुवदास. व्यास जी. मलूकदास आदि सब भक्तों ने किया है। इनके पद कुछ तो राजस्थान मिश्रित भाषा में हैं और कुछ विशुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में। पर सबमें प्रेम की तल्लीनता समान रूप से पायी जाती है। इनके बनाये चार ग्रंथ कहे जाते हैं- नरसी जी का मायरा, गीतगोविंद टीका, राग गोविंद, राग सोरठ के पद।"[2]

आज 21 वीं शताब्दी में जब स्त्रियाँ जाग रही हैं और समाज, इतिहास व शास्त्र को अपने नजरिए से नए सिरे से विश्लेषित कर रही हैं, तो सच्चाई के कई नए पक्ष सामने आ रहे हैं। हिंदी कविता के इतिहास में मीरा की कविता इसी आधुनिक स्त्री चेतना की अभिव्यक्ति का प्रस्थान बिंदु है। मीरा ने आज से लगभग चार

* शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय
sumitsinghyadav9133@gmail.com, Mob. : 9919950482

शताब्दी पहले वह देखा और समझा जो आज भी अति एक सामान्य स्त्री नहीं समझ पाए । उनकी कविता ऊपर से आध्यात्मिक और व्यक्तिगत लग सकती है, लेकिन सामाजिक दृष्टि से वह शोषित, पीड़ित और अपमानित नारी जाति के दुःख का प्रकाशन है और उस दुःख के विरुद्ध एक सशक्त विद्रोह भी।

हिंदी साहित्य में संभवतः पहली बार मीरा की रचनाओं में ही स्त्री चेतना और आत्मबोध का सशक्त स्वर सुनाई पड़ता है। मीरा द्वारा स्वतंत्र व्यक्तित्व की पहचान और उसके लिए जीवनपर्यन्त संघर्ष ही वह तथ्य है, जो उन्हें आधुनिक स्त्री चेतना से जोड़ता है।"लोक-लाज तजने की बात मौरा की कविताओं में बार-बार आती है। मीरा ने अपने इष्ट देव गिरधर का जो रूप निर्मित किया है, वह अत्यंत मोहक है। मीरा के रूप-चित्रण की यह भी विशेषता है कि वह प्रायः गत्वर होता है। गिरधर नागर को प्रायः सचेष्ट अंकित किया जाता है, या तो वे मुरली बजाते हैं या मंद मंद मुस्काते हैं या मीरा की गली में प्रवेश करते हैं। मीरा नारी-सुलभ लज्जा के कारण उनसे सीधे मुँह बात बहुत कम करती हैं। उनके सामने न रहने पर यानी वियोगावस्था में वे उनसे वार्तालाप करती हैं, अनुनय-विनय करती हैं। विरह मीरा के जीवन का भी सबसे बड़ा यथार्थ है और उनके काव्य का भी। मीरा के विरह की सचाई का लक्षण यह है कि वे विरह की पीड़ा के ताप से मुक्त होना चाहती हैं।"[3]

मीरा का सम्पूर्ण साहित्य नारी पर पुरुषों के न्यायहीन तथा संवेदनशून्य आधिपत्य के विरुद्ध एक विद्रोह है। सदियों से स्त्रियों को सत्ता, संपत्ति और प्रतिष्ठा से वंचित रखा गया और इस व्यवस्था को 'ईश्वर प्रदत्त' बताकर पति को ईश्वर मानने का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया ताकि स्त्री बगावत न कर सके। मीरा ने इस दुर्भेद्य व्यवस्था को सीधे चुनौती दी।

अपनी स्वाधीनता की घोषणा करते हुए मीरा कहती हैं:

"सीसोद्यो रूठयो म्हांरो काई करले सी
म्हें तो गुण गोविन्द का गास्यां, हो माई
राणा जी रूठयां बारो देस रखासी
हरि रूठयां कुम्हलास्यां, हो माइ
लोक लाज की काण न मानूं
नरभै निसाण घुरास्यां हो माई।"[4]

यहाँ 'सीसोद्यो' (राणा) का रूठना मीरा के लिए गौण है। वे स्पष्ट करती हैं कि राणा अधिक से अधिक उन्हें अपने देश (राज्य) से निकाल सकता है, लेकिन उनके आंतरिक 'हरि' (स्वतंत्रता) को नहीं छीन सकता। 'लोक लाज की काण न मानूं' कहना उस समय के पितृसत्तात्मक समाज के लिए एक कड़ी चुनौती थी। यह विद्रोह इस चेतना से जन्मा है कि एक स्त्री को भी अन्य पुरुष भक्तों के समान अधिकार पाने का हक है।

डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थवाल मीरा के संदर्भ में कहते हैं, “यद्यपि मीराबाई व्यवहारतः सगुणोपासिका थी और कृष्ण की उपासना रणछोड़ के रूप में किया करती थी, फिर भी यह सच है कि उनके कहे जाने वाले पदों में निर्गुण विचारधारा स्पष्ट दिखती है। उन्होंने अपनी प्रेम सम्बन्धी विनय कृष्ण एव ब्रह्म दोनों के प्रति एक साथ की है ।"[5]

मीरा वो आधुनिक स्त्री है जो प्रेम का चयन स्वयं करती है। उन्हें अपना अधिकार बोध प्राप्त है।पारिवारिक हिंसा और 'चौकी-ताले' की कैद का प्रतिरोध करती हुई मीरा दिखती हैं।स्त्री के स्वाधीनता संघर्ष की पहली रणभूमि उसका 'घर' होता है। मीरा के पदों में मध्यकालीन परिवार के भीतर स्त्री पर होने वाले दमन और पहरेदारी का जीवंत चित्रण मिलता है। वे केवल आध्यात्मिक बातें नहीं करतीं, बल्कि घर के भीतर की कड़वी सच्चाइयों को उजागर करती हैं।

पारिवारिक बाधाओं को दर्ज करते हुए मीरा लिखती हैं:

"हेली म्हांसू हरि बिन रह्यो न जाय
सास लड़ै मेरी नन्द खिजावै, राणा रह्या रिसाय
पहरो भी राख्यो चौकी बिठारयो, ताला दियो जड़ाय"[6]

विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार, ऐसी सीधी और कटु उक्ति भक्तकवियों में विरल है। 'ताला जड़ देना' और 'चौकी बिठाना' उस शारीरिक और मानसिक कैद का बयान है जिसमें मध्यकालीन स्त्री को रखा जाता था। मीरा यहाँ केवल दुखी नहीं हैं, बल्कि वे इन पहरों के बावजूद अपनी 'प्रीति' को न छोड़ने का संकल्प व्यक्त करती हैं।

आत्मनिर्णय का अधिकार और 'अपूठी चाल' मीरा की है।मीरा का संघर्ष महज पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरुद्ध आत्मनिर्णय की भावना थी। उन्होंने समाज की बनाई लीक पर चलने के बजाय अपनी राह खुद चुनी, जिसे समाज ने 'बदनामी' का नाम दिया।

समाज की मर्यादाओं को ठुकराते हुए वे गाती हैं:

"राणाजी म्हाने या बदनामी लागे मीठी
कोई निन्दो कोई बिन्दो, मै चलूंगी चाल अपूठी
सांकडली से जन मिलियास क्यूं कर फिरू अपूठी
सत संगति मा ग्यान सुणै छी, दुरजन लोगा ने दीठी"[7]

यहाँ 'अपूठी चाल' (विपरीत चाल) चलना ही मीरा का स्वाधीनता पत्र है। वे जानबूझकर वह रास्ता चुनती हैं जिसे समाज गलत मानता है, क्योंकि वही रास्ता उन्हें 'ज्ञान' और 'सत्संग' की ओर ले जाता है। वे समाज के 'दुर्जन लोगों' की परवाह नहीं करतीं, बल्कि अपनी बदनामी को 'मीठा' मानकर उसे अपनी जीत में बदल देती हैं।

'अबला' बोध और यथार्थ का आख्यान मीरा की रचनाएं हैं।

मीरा ने अपने पदों में स्वयं को बार-बार 'अबला' कहा है। यह संबोधन उनकी कमजोरी का नहीं, बल्कि उस समय की स्त्री की वास्तविक स्थिति का यथार्थवादी अंकन है जहाँ वह सचमुच असहाय बना दी गई थी। जब राणा उन्हें मारने के लिए जहर भेजता है, तो वे कहती हैं:

"राणाजी थे जहर दियो म्हे जाणी
जैसे कंचन दहत अगिन में, निकसत वारावाणी
लोकलाज कुल काण जगत की, दइ बहाय जस पाणी
अपने घर का परदा करले, मैं अबला वौराणी।"[8]

यहाँ 'घर का पर्दा' करने की सलाह राणा को देना एक तीखा व्यंग्य है। मीरा कहती हैं कि जिसे मर्यादा बचानी है, वह खुद पर्दे में रहे; उन्होंने तो लोक-लाज और कुल-मर्यादा को पानी की तरह बहा दिया है। यह 'वौराणी' (पागल) होना दरअसल पितृसत्ता की नजर में पागलपन है, लेकिन मीरा के लिए यह पूर्ण स्वतंत्रता है।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि मीरा का विद्रोह व्यापक सामाजिक क्रांति क्यों नहीं ला सका?। इसका उत्तर मीरा की 'एकाकी लड़ाई' और संगठित सामाजिक शक्ति के अभाव में छिपा है।

मीरा के अकेलेपन और संघर्ष की कठिनता को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है:

"लगन को नाव न लीजै, री भोली!
पाँव धरत तन छीजै।
जो तू लगन लगाई चाहै, सीस को आसन कीजै।"[9]

प्रो. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, 'सीस का आसन' करना मीरा के जीवन की वह सच्चाई है जहाँ संघर्ष में जीवन की बाजी लगानी पड़ती है। मीरा अकेली थीं; उनके समर्थन में न तो पुरुष वर्ग आया और न ही

स्त्रियाँ, क्योंकि स्त्रियाँ पुरुष को ही अपना रक्षक मानने के संस्कार से बंधी थीं। संगठित सामाजिक शक्ति के विरुद्ध अकेली स्त्री का संघर्ष अंततः अपमान और निर्वासन का कारण बना।

मीरा आज के दौर में भी उतनी ही प्रासंगिक हैं क्योंकि वे उन बुनियादी सवालों से टकराती हैं जो आज की स्त्री के भी हैं, जैसे आत्मनिर्णय, देह पर अधिकार और सामाजिक जड़ता का विरोध। मीरा की कविता आधुनिक स्त्री चेतना के समानांतर चलने की हैसियत रखती है।

समाज की विसंगतियों पर प्रहार करते हुए वे कहती हैं:

"नदयाँ नदयाँ निरमल धारा समुद्र जल खारा
मूरख जण सिंघासन राजा, पण्डित फिरताँ द्वाराँ
मीरों रे प्रभु गिरधर नागर, राणाँ भगत संधाएँ।"[10]

सिंहासन पर 'मूर्ख राजा' (राणा) का बैठना और पंडितों का द्वार-द्वार भटकना मीरा की उस तीखी चेतना को दर्शाता है, जिसने प्रत्यक्षतः अन्यायी सत्ता को झेला था।"मीरा के काव्य पर निर्गुण-सगुण, दोनों साधनाओं का प्रभाव है। उन पर नाथ मत का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। उनके इष्ट देव तो कृष्ण ही हैं, किंतु रामकथा से संबंधित गेयपद भी उन्होंने लिखे हैं। मीरा की कविताएँ शिष्ट समाज के साथ-साथ राजस्थान के भीलों में भी बहुत लोकप्रिय हैं।"[11]

मीरा की कविता केवल राजमहलों के विरुद्ध विद्रोह नहीं है, बल्कि यह लोक-चेतना की वह गूँज है जिसने सदियों की सामाजिक खामोशी को तोड़ा है। उनकी भक्ति में निहित शक्ति ही उन्हें आज की 'स्वतंत्र स्त्री' का आदि-बिंब बनाती है, जो परंपराओं को नकारती नहीं बल्कि उन्हें नया अर्थ देती है। मीरा का संघर्ष यह सिद्ध करता है कि सच्ची क्रांति केवल शस्त्रों से नहीं, बल्कि अडिग आत्मबल और प्रेम की पराकाष्ठा से भी संभव है। प्रेम का स्वयं चयन करती है और जी भरके प्रेम करती है, इतना प्रेम कि नाम मात्र में डूबी रहती है।

"पिया तेरे नाम लुभाणी हो ।
नाम लेन तिरता सुण्या, जैसे पाहण पाणी हो ।।"[12]

मीराबाई भारतीय समाज में स्त्री स्वाधीनता की पहली ऐसी कवयित्री हैं जिन्होंने भक्ति को अपनी स्वतंत्रता का माध्यम बनाया। उनकी कविता स्त्री जीवन के चरम यथार्थ का आख्यान है। उन्होंने स्त्री की पूर्वनिर्मित छवि को तोड़कर एक नई छवि प्रस्तुत की। स्त्री चेतना को एक सिद्धांत के रूप में विकसित करने में जो भूमिका सिमोन द बुवा के 'द सेकेंड सेक्स' की है, जहां वो महिला के संदर्भ में कहती हैं कि पितृसत्तात्मक समाज उसे दूसरे दर्जे का नागरिक मानता है। अभिव्यक्ति के संदर्भ में वही भूमिका मीरा के पदों की रही है। जब इस देश में नारी स्वाधीनता का आंदोलन पूर्णतः विकसित होगा, तब मीराबाई हिंदी ही नहीं, बल्कि वैश्विक स्तर पर और अधिक प्रासंगिक होंगी।

मीरा का विद्रोह केवल व्यक्तिगत मुक्ति की छटपटाहट नहीं, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए सामाजिक जड़ताओं को तोड़ने का एक वैचारिक निमंत्रण है। उन्होंने अपनी भक्ति को आत्म-सम्मान की ढाल बनाकर यह सिद्ध किया कि अस्मिता की रक्षा हेतु व्यवस्था से टकराना ही स्त्री स्वाधीनता का वास्तविक और स्थायी सच है।

संदर्भ सूची:-

1. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, 2018, पृष्ठ 48
2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, ग्रीन लीफ पब्लिकेशन, संस्करण 2015 -16,पृष्ठ 136
3. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड,2018,पृष्ठ 49
4. विश्वनाथ त्रिपाठी "मीरा का काव्य, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1989, पृ० 104.
5. हिन्दी साहित्य, डॉ. चातक एवं डॉ. महर्षि, पृ.65

6. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी (संपादक) "मीराबाई की पदावली, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग अठारहवाँ संस्करण, 1989, पृ० 112
7. विश्वनाथ त्रिपाठी 'मीरा का काव्य, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1989.पृष्ठ 104
8. विश्वनाथ त्रिपाठी 'मीरा का काव्य, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1989.पृष्ठ 104
9. मैनेजर पाण्डेय 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1993, पृ० 42.
10. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी (संपादक) "मीराबाई की पदावली, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग अठारहवों संस्करण, 1989, पृ० 155.
11. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, 2018, पृष्ठ 50
12. भक्ति काव्य सरिता, सं.डॉ. श्याम सुन्दर दीक्षित, पृ.69

विजयदेव नारायण साही : राजनीति और साहित्य

सचिन कुमार*

विजयदेव नारायण साही बहुमुखी प्रतिभा के धनी कवि, आलोचक और राजनेता थे। वे अंग्रेजी के प्राध्यापक होने के साथ ही बहुभाषाविद् भी थे। अंग्रेजी भाषा पर अधिकार होने के कारण वे देश-विदेश में होनेवाले साहित्य संबंधित बहसों से परिचित थे। इन्होंने समाजवादी राजनीति के सक्रिय एवं कर्मठ कार्यकर्ता होने के साथ-साथ 'आलोचना' और 'नयी कविता' पत्रिकाओं का सहयोगी संपादन कार्य भी किया है। एक राजनीतिक कार्यकर्ता और साहित्यिक विचारक होने के नाते साही द्वारा 'सत्ता और साहित्य' के संबंधों का किया गया विश्लेषण महत्वपूर्ण कार्य है। साहित्य और राजनीति के बीच अतीत में क्या सम्बन्ध रहे हैं? साहित्य और राजनीति में वर्तमान में क्या सम्बन्ध है? साथ ही भविष्य के निर्माण में साहित्य और राजनीति के बीच क्या बेहतर सम्बन्ध हो सकते हैं? इन प्रमुख सवालों पर विजयदेव नारायण साही ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अपने विचार को व्यक्त किया है। इनके वैचारिक पुस्तकों में हैं- जायसी, साहित्य और साहित्यकार का दायित्व, छठवाँ दशक, साहित्य क्यों, वर्धमान और पतनशील। इन पुस्तकों में साहित्य और राजनीति विषय से संबंधित महत्वपूर्ण निबंध है- राजनीति और साहित्य।

राजनीति और साहित्य के बीच सम्बन्ध कैसा होना चाहिए, इसको लेकर विद्वानों में तीन तरह के विचार प्रचलित है। पहला विचार- साहित्य स्वभाव से ही सत्ता-विरोधी होता है। अर्थात् साहित्य और राजनीति के बीच कोई संबंध हो सकता है तो वह विरोध का है। इसलिए जो साहित्य सत्ता के विरोध में नहीं है, वह साहित्य ही नहीं है। दूसरा विचार- साहित्य को राजनीति से हमेशा दूर रहना चाहिए। राजनीति का हस्तक्षेप साहित्य को जड़ बनाता है और उसे भ्रष्ट कर देता है। राजनीति द्वारा साहित्य को संरक्षण देने पर भी साहित्यकार को राजनीति से दूर रहना चाहिए। तीसरा विचार - समाज में शोषक और शोषित लोगों के आपसी संघर्ष में साहित्य को शोषित वर्ग के पक्ष में खड़ा रहना चाहिए।

साही राजनीतिक रूप से राममनोहर लोहिया के विचारों से प्रभावित थे। वे राजनीति के लिए महत्वपूर्ण संघर्ष करते हैं। इन्होंने कालीन बुनकरों को लेकर जबरदस्त आंदोलन चलाया था। साथ ही इन्होंने लोकसभा का चुनाव लड़कर सक्रिय रूप से राजनीतिक भागीदारी भी निभायी थी। साहित्यिक और राजनीतिक बहसों में शामिल साही का विश्लेषण हमारे लिए महत्वपूर्ण दस्तावेज के रूप में उपलब्ध है। नयी कविता के महत्वपूर्ण कवि साही ने 'तीसरा सप्तक' के कवि वक्तव्य में अपनी कविता संबंधी दृष्टिकोण को पच्चीस शीलों में व्यक्त किया है। आठवें शील में साही लिखते हैं - **"कविता को राजनीति में नहीं घुसना चाहिए क्योंकि इससे कविता का कुछ न बिगड़ेगा, राजनीति के अनिष्ट होने की संभावना है।"**[1] शाही का मानना है कि समाज में ऊपरी परिवर्तन करने में राजनीति का प्रमुख हाथ होता है। इसलिए वे राजनीति का स्थान साहित्य से अधिक महवपूर्ण मानते हैं। वे ग्यारहवाँ शील में कहते हैं कि **"कविता से समाज का उद्धार नहीं हो सकता। यदि सचमुच समाज का उद्धार करना चाहते हैं तो देश का प्रधानमंत्री बनने या बनाने की चेष्टा कीजिए।"**[2]

'राजनीति और साहित्य' निबंध के शुरुआत में ही साही ने राजनीति द्वारा साहित्य के प्रति क्रूर ऐतिहासिक घटना का उल्लेख करते हैं, जहाँ धर्म के नशें में चूर बादशाह पुस्तकालय को जलाने का आदेश देता है - **"अगर इन किताबों में वे चीजें लिखी हैं जो कुरान से मेल नहीं खातीं तो निश्चय ही वे कुफ्र हैं और इसलिए**

* शोधार्थी, हिंदी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
sachin12012001@gmail.com, 7562870298

जला डालने के काबिल हैं, और अगर इनकी बातें वही हैं जो क़ुरान में लिखी जा चुकी है तो ये सब किताबें फ़िज़ूल हैं और इनके जला डालने से कोई नुकसान न होगा।"[3] यह घटना मिस्र के अलेक्जेंड्रिया नगर में अरब शहंशाहों द्वारा की गई थी। यह सत्ता द्वारा अपने से अलग विचार रखने वाले साहित्यों के दमन का अनूठा उदाहरण है। बिहार में बख्तियार खिलजी द्वारा नालंदा विश्वविद्यालय की पुस्तकालय जलाने में भी इसी घटना का दुहराव देखते हैं। उस समय की राजनीति में धर्म का आधिपत्य था, क्योंकि समाज में सभी ढांचा धर्म और उसकी संस्थाओं से संचालित था। साही ने समाज में धर्म के आधिपत्य का दो कारण माना है। पहला कारण- **"प्राकृतिक परिस्थितियों के विषय में मनुष्य का ज्ञान इतना थोड़ा था कि सामान्य तर्क से वह उनका विश्लेषण करने में असमर्थ था। अतएव सामान्य दैनिक अनुभवों के लिए भी उसे तर्क के अतिरिक्त अन्य रागात्मक अथवा रहस्यात्मक प्रवृतियों का सहारा लेना पड़ता था- इस प्रकार श्रद्धा, विश्वास, दैविक प्रेरणा, भय, भक्ति आदि के द्वारा धर्म को प्राधान्य मिला।"**[4] दिक्कत तब शुरू हुई जब मनुष्य की तर्क-बुद्धि ने अपने अनुभवों को प्रधानता दी तथा उसके धार्मिक अनुभवों से विरोध आरम्भ हुआ। साही ने समाज में धर्म के आधिपत्य के दूसरा कारण माना है- **"धार्मिक संस्थाओं और पुरोहित वर्गों का उदय और समाज के अन्य वर्गों पर उनके अधिकार और सत्ता के विस्तार की सीमा।"**[5]

साही ने समाज में धर्म के एकाधिकार के दो मुख्य युग को बताकर उसमें साहित्य की स्थिति को समझाया है। पहला युग है- दास-स्वामियों का समाज, दुसरा युग है- सामंतवादी युग (डार्क एज)। दास-स्वामियों के समाज में पहली बार पुरानी मान्यताओं के विरुद्ध तार्किक जिज्ञासा का जन्म हुआ। धर्म से अलग साहित्य और दर्शन आने पर पहली बार स्वतंन्त्र विचारों की संभावना हुई। इस परिस्थिति का अच्छा उदाहरण ग्रीस की उस समय के महाकाव्यों, नाटकों या दर्शन में है। इन साहित्यों में रूढ़िगत धर्म के बाह्याचार में परिवर्तन के संकेत है। साही भारत के बारे में लिखते हैं - **"भारत में भी महाकाव्यों, विशेषतः महाभारत और उपनिषत्पूत सिद्धांतों की प्रवृति से पता चलता है कि पुराने पुरोहित वर्ग के आधिपत्य को चुनौती देने के लिए धर्म की मान्यताओं का नया तार्किक विश्लेषण करने की आवश्यकता पड़ी।"**[6]

यूरोपीय इतिहास के सामंतवादी युग में ईसाई चर्च ने सामंत वर्ग का पोषक और स्वामी बनकर राज किया। इस समय धर्मान्धता अपने उग्र रूप में आई। होमर,अफलातून, अरस्तु, सिसरो और सिनेका इतिहास के पन्नों से गायब हो गए। पुरानी किताबें खोज-खोजकर नष्ट की गयी। इस युग में साहित्य के संबंधों पर साही लिखते हैं- **"इस युग का प्रमुख साहित्य केवल धार्मिक साहित्य है। लिखने का अधिकार केवल पादरियों को रह गया और यदि अन्य कोई लिखता भी था तो उस पर चर्च का जबरदस्त अनुशासन और सेंसर काम करता था।"**[7] यह साहित्य पर राजनीति और धर्म का सेंसरशिप था। आज के समय में भी यह सवाल प्रमुख है कि साहित्य में सेंसरशिप हो या नहीं। सेंसर की व्यवस्था में मूलतः स्वतंत्र विचारों को राजनीति प्रमुख द्वारा नियंत्रित किया जाता है। यहाँ साहित्य और राजनीति के संबंधों को समझ सकते हैं।

इस्लाम के उदय के समय भी धर्म का वह एकाधिकार समाज से जिज्ञासाओं को समाप्त करना जरुरी समझ लिया। इस परिस्थिति में जीवन में धर्म के निरंकुशता का प्रभाव साहित्य और कला पर पड़ा। साही बताते हैं- **"प्रारंभिक इस्लाम तो कला और साहित्य का इतना जबर्दस्त दुश्मन होकर आया कि कविता, मूर्तिकला, संगीत आदि तो बिलकुल अवैध घोषित हो गयीं।"**[8] इस्लामी साहित्य को दो भागों में बांटकर देखें तो पहले युग में सातवीं से दसवीं शताब्दी के अंत तक जो थोड़ी-बहुत शायरी हुई, वह केवल मुहम्मद की प्रशंसा और क़ुरान के अनुकूल थी। इस समय मौलिकता का अभाव रहा तथा साहित्य धर्म के प्रचार का काम करता रहा। प्रश्न यह है कि क्या साहित्य को धर्म या राजनीति के प्रचार मात्र के लिए होना चाहिए? मुंशी प्रेमचंद भी अपने 'साहित्य के उद्देश्य' निबंध में प्रचारात्मक साहित्य का विरोध करते हैं। प्रेमचंद ने साहित्य का लक्ष्य माना है - **"साहित्य का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, - उसका दर्जा इतना न गिराइए। वह**

देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।"[9]

इस्लामी साहित्य के दूसरे युग- दसवीं शताब्दी और उसके बाद के समय में साहित्यिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण प्रारंभ होता है, जिसका नेतृत्व विद्रोही ईरान करता है। महमूद गजनवी के समकालीन इस युग के दो महत्वपूर्ण कवि हैं- फ़िरदौसी और अबूसैद अबू खैर। फ़िरदौसी का 'शाहनामा' स्वीकृत इस्लाम धर्म से मुक्त धर्मनिरपेक्ष रचना है। इस रचना में इस्लाम-पूर्व ईरान के वीरों का इतिहास है। साही ने 'राजनीति और साहित्य' निबंध में लिखा है- **"कट्टर मुसलमान महमूद गजनवी द्वारा प्रेरित और पोषित ईरानी साहित्य की विशाल धारा का यह पहला निर्झर, ईरान की राष्ट्रीयता का गौरव और उठते हुए ईरान के उल्लास और उत्साह का यह महाकाव्य ईरान के उन पुराने वीरों का इतिहास है जब इस्लाम का कहीं नाम-निशान भी नहीं था।"**[10] अबूसैद अबू खैर सूफी साहित्य के उन्नायक हैं, जिसमें स्वीकृत इस्लाम धर्म से भिन्न मान्यताएँ हैं। मौलवियों ने अबुसैद के विचारों को इस्लाम विरोधी बताकर, समाज में उनके विरुद्ध प्रचार भी किया किन्तु उनकी तानाशाही पहले की तरह नहीं रही, जैसे मंसूर के साथ किया था। इस तरह से साहित्य और साहित्यकार को धर्म के चंगुल से छुटकारा मिलने लगा था। धर्म आधारित राज्य व्यवस्था में मुक्त विचारों के साहित्य की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।

यूरोप में पन्द्रहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण काल में नये साहित्य और कलाओं का निर्माण हुआ, जो मध्यकालीन परिवेश से अलग था। इस नयेपन का नेतृत्व इटली, फ्रांस और इंग्लैंड ने किया। जिसमें उभरते मध्यम वर्ग ने सामंत युग का विनाश कर राष्ट्रीयता को जन्म दिया तथा पूँजीवाद की स्थापना की। साही बताते हैं- **"इस नये मध्यम वर्ग ने विश्व-दर्शन, सांस्कृतिक मूल्यों, और साहित्य तथा कला के क्षेत्र में ऐसी उथल-पुथल मचायी कि पुरानी परंपराओं और मान्यताओं का सारा महल ढह गया।"**[11] इस मध्यम वर्ग ने धर्म के मूल आधार श्रद्धा और विश्वास को चुनौती देते हुए, ज्ञान के नये आधार तर्क और बुद्धि को स्थापित किया। इस पूँजीवादी वर्ग के लिए शासन चलाने हेतु ईश्वर-प्रदत्त अधिकार आवश्यक नहीं रहे, राज्य शासन चलाने के लिए अलग विज्ञान की उत्पत्ति हुई जिसे 'राजनीति' कहा गया। साही ने राज्य की सत्ता को सर्वोपरि माना है- **"नवयुग के प्रथम राजनीतिशास्त्री मैकियावेली ने राज्य की सत्ता को सर्वोपरि घोषित करते हुए चर्च के लुप्त प्राय अधिकारों का फातिहा पढ़ डाला।"**[12]

पन्द्रहवीं शताब्दी के पूँजीवाद ने स्थापित मूल्यों में परिवर्तन किया। उसके लिए सांस्कृतिक एकाधिकारवाद की कोई जरूरत नहीं थी। इस समय शासन का शास्त्र धर्म न होकर राजनीतिशास्त्र हो गया, विचारों की स्वतंत्रता और मुक्त प्रतियोगिता का दौर शुरू हो गया। साथ ही मूल्य के रूप में व्यक्तिवाद प्रमुख हो गया। पूँजीवाद धर्म को कमजोर कर सकता है किन्तु समाज से नष्ट नहीं कर सकता है। पूँजीवादी व्यवस्था में बाज़ार के उदय ने व्यापक जनता तक अपनी पहुँच बढ़ाकर अपने वस्तुओं और सेवाओं का विक्रय करने के लिए लोगों की धार्मिक रूढ़ियों और कर्मकांडों पर प्रहार करना भी छोड़ दिया। इस विषय पर साही सवाल पूछते हैं कि **"क्यों पूँजीवाद के दार्शनिक बुद्धि का सहारा लेकर चलते हुए भी अन्त में अनिवार्यतः रहस्यवादी और ईश्वरवादी या धर्मवादी हो जाते हैं।"**[13]

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक अंग्रेजी साहित्य राजनीति और उसकी आवश्यकताओं से दूर रहा, इसका प्रमुख उदाहरण शेक्सपीयर का साहित्य और एलिजाबेथ काल का साहित्य है। किन्तु इसके बाद महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। अब पूँजीपति वर्ग खुद अपने हाथ में सत्ता ग्रहण करने के बदले, सत्ता सँभालने हेतु अपने वर्ग के विद्वानों के समूह का पोषण एवं रक्षण किया। बुद्धिजीवियों द्वारा राजकाज सँभालने पर राजनीति और साहित्य आपस में जुड़ गया। साहित्य का झुकाव राज्य की ओर होने लगा तथा मिल्टन पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने तत्कालीन दलगत राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लिया। 'राजनीति और साहित्य' निबंध में साही बदलती

प्रवृतियों पर बताते हैं कि **"एलिजाबेथ के समय के साहित्यकारों की तरह मुख्यतः उसकी रचनाओं का उद्देश्य राजनीतिक प्रचार की जगह मध्यम वर्ग के मानवीय मूल्यों पर जोर देना ज्यादा है। इसके विपरीत अठारवीं शताब्दी का साहित्य ड्राइडन से लेकर जॉनसन तक तत्कालीन राजनीतिक प्रचार और उसकी दलबंदियों से सीधा जुड़ा हुआ है।"**[14] पत्रकारिता साहित्य राजनीति के सबसे करीब है किन्तु साहित्य को राजनीति का प्रचार करने या राजनीति से अनुकूलित होने से बचना चाहिए। नेमिचंद्र जैन अपने निबंध 'सत्ता और संस्कृति' में राजनीति के पिछ्लगुआ होने का विरोध करते हैं- **"अगर संस्कृति को सत्ता का पिछ्लगुआ बनाना घातक है, तो उतना ही आत्मघाती है उसे किसी राजनैतिक पार्टी, कार्यक्रम या विचारधारा का पिछ्लगुआ बनाना।"**[15] नेमिचंद्र जैन की यह बात साहित्यिक संबंधों को लेकर जरूरी हस्तक्षेप है।

उन्नीसवीं शताब्दी में बुर्जुआ साहित्य और राजनीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन होता है। एक तरफ फ्रांस की राज्यक्रांति ने मध्य वर्ग के लोगों में स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जैसे आदर्शों का निर्माण कर उन लोगों को आंदोलित किया। दूसरी तरफ पूँजीवाद के भीतर के अंतर्विरोध तथा इंग्लैंड में पूँजीवाद के दुष्परिणामों ने लोगों को चिंतित किया। इस समय का साहित्य राजनीति से असम्पृक्त नहीं है। साही बताते हैं कि **"वायवी वातावरण में विचरण करने वाला शैली भी मुख्यतः अपने को राजनीतिक कार्यकर्ता ही समझता है।"**[16]

साहित्य और राजनीति के स्वतंत्र बढ़ते संबंधों को कम्युनिज्म और फासिज्म ने सर्वाधिक प्रभावित किया। एक बार फिर से साहित्य के ऊपर राजनीति का एकाधिकार हो गया, जैसे दास-सामंत युग में धर्म ने साहित्य पर एकाधिकार किया था। फासिज्म ने अपने को केवल राजनीतिक कार्यक्रम नहीं कहा, किन्तु सांस्कृतिक आन्दोलनकारी माना। सांस्कृतिक उत्थान के लिए राज्य को आवश्यक बताते हुए फासिज्म ने अपनी जड़े स्थापित की। इसपर साही बताते हैं कि **"एक दल खड़ा हुआ जिसने अपनी आवश्यकताओं को राज्य की और राज्य की आवश्यकताओं को समस्त राष्ट्र की आवश्यकता घोषित किया। और इसके पीछे वही मध्ययुगीन ईसाई चर्च की तरह अपने पक्ष में अखंड विश्वास और किंचित विरोध को भी न बर्दाश्त करने की भावना थी।"**[17] इस परिस्थिति में साहित्य द्वारा विरोध असंभव था। साहित्य को भी अपने दलगत लाभ के लिए प्रयोग किया जाने लगा। यहाँ ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि साहित्य का मानवीय पक्ष स्वभावतः शोषक वर्ग का विरोधी हो गया। जिस तरह पूँजीवाद ने अपनी ढहती मकान को फासिज्म के जरिये बचाने की कोशिश की, उसी तरह उसने कला और साहित्य को राजनीतिक गुलाम बनाकर मानवीयता को खत्म किया। इस तरह साहित्य में स्वातंत्र्य विचारों का खात्मा हो गया और साहित्य प्रचार का ही दूसरा नाम बन गया था।

मार्क्सवाद 'कला कला के लिए है' नहीं मानता है। वह साहित्य को केवल पार्टी का अस्त्र नहीं मानता किन्तु सभी वर्ग के सांस्कृतिक प्रयास की उत्पत्ति मानता है। मार्क्स साहित्य को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जाँचकर नयी संस्कृति का निर्माण करना चाहते थे, जो किसानों और मजदूरों को जागृत कर मानवता को स्थापित करे। 'मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिष्ट परिणति' निबंध में साही ने उस समय रूस की कम्युनिस्ट पार्टी का प्रस्ताव बताया है- **"सोवियत साहित्य की, जो संसार का सबसे प्रगतिशील साहित्य है,प्राण-शक्ति इसी में है कि उसके लिए जनता और राज्य के हितों के अतिरिक्त न कोई उद्देश्य है और न हो सकता है।"**[18] बाद के साहित्यकारों और आलोचकों ने साहित्य को पार्टी के एजेंडे तक सीमित कर दिया, जिसका साही ने खुलकर विरोध किया। अपने निबंध में साही बताते हैं कि **"एक ओर धीरे-धीरे साहित्य को प्रतिबिम्ब, फिर वर्ग का प्रतिबिम्ब, फिर मजदूर वर्ग का प्रतिबिम्ब बनाया गया; दूसरी ओर जनता को समेट कर मजदूर वर्ग, फिर मजदूर वर्ग को कम्युनिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी को भी पार्टी-नेतृत्व में केन्द्रित कर दिया गया।"**[19] साही ने इस तरह के दलानुशासित साहित्य को 'साहित्य' के लिए खतरा माना है।

इस प्रकार से हम विजयदेव नारायण साही के साहित्य और राजनीति संबंधित विचारों को समझ सकते हैं। साही इस बात से सहमत हैं कि सरकार लेखक की सहायता करे, लेकिन लेखक का कर्तव्य नहीं है कि वह

सरकार का सहयोग करे। लेखक समाज से जुड़कर सृजनात्मक रचनाएँ करता है किन्तु सत्ता से जुड़कर, सत्ता की विचारों को अपनी भाव-भूमि मानकर प्रचारात्मक साहित्य का निर्माण करने लगता है, जिसका विरोध साही ने किया है। साही जी हमेशा 'साहित्य में राजनीति और राजनीति में साहित्य' की बात से बचते थे। उन्होंने साहित्य को राजनीतिक विचारों का उपनिवेश नहीं बनने दिया। साहित्य का अपना प्रतिरोधी स्वर होता है, वे उसी प्रतिरोधी स्वर को रेखांकित करने का प्रयत्न करते रहे। इस तरह हम साही के एक साथ कवि, आलोचक और राजनीतिक कार्यकर्ता वाले बहुआयामी व्यक्तित्व को समझ सकते हैं।

सन्दर्भ :

1. अज्ञेय, तीसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण 1996, पृष्ठ -182
2. वही, पृष्ठ - 183
3. राजनीति और साहित्य, गोपेश्वर सिंह (सं.), विजयदेव नारायण साही रचना-संचयन, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2021, पृष्ठ-208
4. वही, पृष्ठ-209
5. वही, पृष्ठ-209
6. वही, पृष्ठ-210
7. वही, पृष्ठ-210
8. वही, पृष्ठ-213
9. प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, hi.m.wikisource.org
10. राजनीति और साहित्य, गोपेश्वर सिंह (सं.), विजयदेव नारायण साही रचना-संचयन, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2021, पृष्ठ- 215
11. वही, पृष्ठ- 216
12. वही, पृष्ठ- 217
13. वही, पृष्ठ- 218
14. वही, पृष्ठ- 220
15. नेमिचंद्र जैन, दृश्य अदृश्य, वाणी प्रकाशन, संस्करण 1994, पृष्ठ - 29
16. गोपेश्वर सिंह (सं.), विजयदेव नारायण साही रचना-संचयन, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2021, पृष्ठ- 221
17. वही, पृष्ठ- 222
18. मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति, गोपेश्वर सिंह (सं.), विजयदेव नारायण साही रचना-संचयन, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2021,वही, पृष्ठ- 243
19. वही, पृष्ठ- 243

बिहार में गरीबी निवारण कार्यक्रम का बदलता स्वरुप : एक अध्ययन

अभिषेक कुमार*
डॉ. विवेक प्रकाश सिंह**

शोध सारांश

यह शोधपत्र बिहार में संचालित गरीबी निवारण कार्यक्रमों के स्वरूप, प्रभाव एवं चुनौतियों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। बिहार ऐतिहासिक रूप से आर्थिक पिछड़ेपन, कृषि पर अत्यधिक निर्भरता, बेरोज़गारी, अशिक्षा तथा प्राकृतिक आपदाओं जैसी समस्याओं से ग्रस्त रहा है, जिसके परिणामस्वरूप यहाँ गरीबी का स्तर लंबे समय तक उच्च रहा। केंद्र एवं राज्य सरकार द्वारा लागू विभिन्न योजनाएँ—जैसे महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम(मनरेगा), राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (जीविका), प्रधानमंत्री आवास योजना तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली,गरीबी उन्मूलन की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इन कार्यक्रमों ने ग्रामीण रोजगार सृजन, महिला सशक्तिकरण, खाद्य सुरक्षा, आवासीय सुविधाओं और सामाजिक सुरक्षा में उल्लेखनीय सुधार किया है। विशेष रूप से स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से महिलाओं की आर्थिक भागीदारी में वृद्धि हुई है, जिससे सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को गति मिली है। साथ ही, प्रत्यक्ष लाभ अंतरण (DBT) और सामाजिक अंकेक्षण जैसी व्यवस्थाओं ने पारदर्शिता को बढ़ावा दिया है। इसके बावजूद, योजनाओं के क्रियान्वयन में भ्रष्टाचार, जागरूकता की कमी, प्राकृतिक आपदाओं और स्थायी रोजगार के अभाव जैसी चुनौतियाँ बनी हुई हैं। अध्ययन निष्कर्षतः सुझाव देता है कि कौशल विकास, औद्योगिक विस्तार, कृषि सुधार एवं प्रभावी निगरानी तंत्र को सुदृढ़ कर ही बिहार में गरीबी उन्मूलन के लक्ष्य को स्थायी रूप से प्राप्त किया जा सकता है।

कूटशब्द: बिहार, गरीबी उन्मूलन, मनरेगा, जीविका, प्रधानमंत्री आवास योजना, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, कौशल विकास

भूमिका

गरीबी किसी भी समाज के समग्र विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधाओं में से एक है। यह केवल आय की कमी नहीं, बल्कि शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, पोषण, सामाजिक सुरक्षा और सम्मानजनक जीवन के अवसरों से वंचित होने की बहुआयामी स्थिति है। बिहार जैसे राज्य, जहाँ ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताएँ लंबे समय से विद्यमान रही हैं, वहाँ गरीबी की समस्या और भी जटिल रूप ले लेती है।

बिहार भारत के उन राज्यों में रहा है जहाँ लंबे समय तक आर्थिक पिछड़ापन, औद्योगिक विकास का अभाव, कृषि पर अत्यधिक निर्भरता, प्राकृतिक आपदाएँ तथा सामाजिक असमानताएँ गरीबी को स्थायी रूप से बनाए रखने में सहायक रही हैं। हालांकि पिछले दो दशकों में राज्य ने विकास की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति की है, फिर भी गरीबी उन्मूलन एक प्रमुख नीति-प्राथमिकता बनी हुई है।

इसी परिप्रेक्ष्य में बिहार में गरीबी निवारण कार्यक्रमों का स्वरूप समय के साथ बदलता रहा है। गरीबी कम करने के लिए चलाई गई सरकारी योजनाओं,नीतियों,रणनीतियों और कार्यान्वयन के तरीके बदलते गए हैं और उनका एक नवीन स्वरुप विकसित हुआ है। प्रारंभिक चरण में ये कार्यक्रम मुख्यतः राहत एवं अनुदान पर आधारित थे, किंतु वर्तमान समय में इनका स्वरूप बदलकर आजीविका सृजन , सामाजिक सुरक्षा,सशक्तिकरण, सहभागिता, कौशल विकास और आत्मनिर्भरता की ओर उन्मुख हो चुका है। यह भूमिका इसी बदलते स्वरूप को समझने का प्रयास करती है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य केंद्र एवं राज्य सरकार द्वारा गरीबी निवारण हेतु संचालित विभिन्न योजनाओं, नीतियों एवं कार्यक्रमों का समग्र विश्लेषण करना तथा उनके सामाजिक-आर्थिक प्रभावों का मूल्यांकन करना है।

* समाजशास्त्र विभाग, भूपेन्द्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय, मधेपुरा, बिहार, भारत

** शोध निदेशक, वरीय सहायक प्राध्यापक, विश्वविद्यालय समाजशास्त्र विभाग, भूपेन्द्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय, मधेपुरा, बिहार, भारत

अध्ययन पद्धति

प्रस्तुत अध्ययन में सरकारी प्रतिवेदन,द्वितीयक स्त्रोतों का प्रयोग कर तथ्यों के वास्तविक एवं यथार्थ विवरण को प्रस्तुत किया गया है। द्वितीयक स्त्रोतों में भारत सरकार के मंत्रालय के रिपोर्ट,बिहार सरकार के वार्षिक प्रतिवेदन,आर्थिक सर्वेक्षण, नीति आयोग की गरीबी,बहुआयामी गरीबी एवं मानव विकास रिपोर्ट अदि का यथासंभव सहयोग लिया गया है।अध्ययन केंद्र एवं राज्य सरकार द्वारा चलायी जा रही गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों पर आधारित है जिनके माध्यम से राज्य में गरीबी के स्तर को कम करने का प्रयास किया जा रहा है।

गरीबी निवारण हेतु केंद्र एवं राज्य सरकार द्वारा संचालित योजनाएँ

आज़ादी के बाद भारत सरकार ने विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से गरीबी से निपटने के लिए कई कार्यक्रम लागु किए। आर्थिक नियोजन की शुरुआत में गरीबी उन्मूलन के लिए लिए सरकार द्वारा सीधे-सीधे कोई विशेष योजना नहीं तैयार की गई थी। फिर भी योजना काल के प्रारंभ में राष्ट्रीय प्रसार सेवा कार्यक्रम, सामुदायिक विकास योजना, कृषि एवं उससे सम्बंधित क्षेत्रों के विस्तार तथा उनके विकास के माध्यम से गरीबी को कम करने का प्रयास सरकार के द्वारा किया गया। इन योजनाओं का सकारात्मक प्रभाव बिहार पर भी पड़ा।

सारणी संख्या -01

पंचवर्षीय योजना एवं बिहार पर उसका प्रभाव

क्र.सं.	योजना (वर्ष)	राष्ट्रीय स्तर पर मुख्य उद्देश्य	बिहार पर प्रमुख प्रभाव
1	प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951–56)	कृषि विकास, सिंचाई, पुनर्वास	गंडक एवं सोन परियोजनाओं से सिंचाई विस्तार, कृषि उत्पादन में वृद्धि
2	द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956–61)	औद्योगिकीकरण (महालनोविश मॉडल)	बरौनी रिफाइनरी की स्थापना, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का विकास
3	तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961–66)	आत्मनिर्भरता, कृषि-उद्योग संतुलन	हरित क्रांति कार्यक्रम की शुरुआत, उन्नत बीज व उर्वरक उपयोग
4	चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969–74)	स्थिरता व विकास	बैंकों के राष्ट्रीयकरण से ग्रामीण ऋण सुविधा में सुधार
5	पंचम पंचवर्षीय योजना (1974–79)	गरीबी हटाओ	ग्रामीण रोजगार योजनाएँ, सार्वजनिक वितरण प्रणाली सुदृढ़
6	षष्ठ पंचवर्षीय योजना (1980–85)	गरीबी उन्मूलन, तकनीकी विकास	IRDP व स्वरोजगार योजनाओं से ग्रामीण आय में वृद्धि
7	सप्तम पंचवर्षीय योजना (1985–90)	रोजगार, उत्पादकता	शिक्षा व स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार
8	अष्टम पंचवर्षीय योजना (1992-97)	उदारीकरण के बाद मानव विकास	निजी निवेश को प्रोत्साहन, सेवा क्षेत्र में वृद्धि
9	नवम पंचवर्षीय योजना (1997–2002)	सामाजिक न्याय	ग्रामीण विकास कार्यक्रमों का विस्तार
10	दशम पंचवर्षीय योजना (2002–07)	8% विकास दर लक्ष्य	सड़क, शिक्षा व स्वास्थ्य में निवेश वृद्धि
11	एकादश पंचवर्षीय योजना (2007–12)	समावेशी विकास	सर्व शिक्षा अभियान, मनरेगा का व्यापक क्रियान्वयन
12	द्वादश पंचवर्षीय योजना (2012–17)	तेज, समावेशी एवं सतत विकास	ग्रामीण विद्युतीकरण, आधारभूत संरचना व कौशल विकास

देश में गरीबी कम करने के लिए सरकार ने कई सारी योजनाओं का क्रियान्वयन किया। केन्द्र सरकार द्वारा सामाजिक सुरक्षा और सशक्तिकरण हेतु प्रधानमंत्री गरीब कल्याण अन्न योजना, प्रधानमंत्री आवास योजना (शहरी एवं ग्रामीण), प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना, सौभाग्य योजना, वही स्वास्थ्य सेवा के लिए आयुष्मान भारत योजना, प्रधानमंत्री जनऔषधि योजना, प्रधानमंत्री मातृ वंदना

योजना, वितीय समावेशन और लोककल्याण हेतु प्रधानमंत्री जनधन योजना, अटल पेंशन योजना, पीएम किसान मानधन योजना, रोजगार और कौशल विकास के लिए मनरेगा, प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना एवं उद्योग के लिए प्रधानमंत्री मुद्रा योजना, पीएम स्वनिधि योजना, राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन जैसी योजनाओं एवं कार्यक्रमों का संचालन किया जा रहा है।

1. प्रधानमंत्री आवास योजना

भारत सरकार द्वारा 25 जून 2015 को इस योजना की शुरुआत की गई। यह एक महत्वपूर्ण सामाजिक कल्याण योजना है, जिसका मुख्य उद्देश्य वर्ष 2022 तक देश के प्रत्येक गरीब परिवार को "सभी के लिए आवास (Housing for All)" का लक्ष्य प्राप्त कराना है। यह योजना दो भागों में विभाजित है — प्रधानमंत्री आवास योजना (शहरी) और प्रधानमंत्री आवास योजना (ग्रामीण)। शहरी क्षेत्र में यह योजना आवास एवं शहरी कार्य मंत्रालय द्वारा संचालित की जाती है, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में इसका कार्यान्वयन ग्रामीण विकास मंत्रालय के अंतर्गत होता है।

इस योजना का मूल उद्देश्य गरीबों को पक्के और सुरक्षित मकान उपलब्ध कराना है, जिनमें जल, स्वच्छता, बिजली और रसोई जैसी बुनियादी सुविधाएँ सुनिश्चित की जाती हैं। PMAY-Urban के अंतर्गत पात्र लाभार्थियों को घर बनाने या खरीदने के लिए ₹2.5 लाख तक की क्रेडिट-लिंक्ड सब्सिडी दी जाती है, वहीं PMAY-Gramin में प्रत्येक लाभार्थी को ₹1.20 लाख (मैदानी क्षेत्र) और ₹1.30 लाख (पर्वतीय क्षेत्र) की केंद्र सहायता प्रदान की जाती है।

2. महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (MGNREGA)

मनरेगा भारत सरकार की एक ऐतिहासिक और सामाजिक सुरक्षा पर आधारित योजना है, जिसे 2005 में अधिनियम के रूप में पारित किया गया और 2006 में लागू किया गया। यह योजना दुनिया की सबसे बड़ी सार्वजनिक रोजगार गारंटी योजना मानी जाती है। इसका मूल उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों के प्रत्येक परिवार को प्रति वर्ष कम से कम 100 दिनों का मजदूरी आधारित रोजगार उपलब्ध कराना है।

सारणी संख्या -02

मुजफ्फरपुर जिला (बिहार) में प्रखंडवार जॉब कार्ड पंजीकरण एवं रोजगार मांग की स्थिति

S.No	प्रखंड	पंजीकृत की संख्या	वर्तमान वर्ष में शामिल जॉबकार्ड की संख्या	रोजगार की मांग
1	औराई	90905	5312	20312
2	बांद्रा	45926	745	7131
3	बोचहां	68260	2949	3524
4	गैघाट	77705	3975	14122
5	कांटी	35331	2169	4985
6	कटरा	78458	3019	15625
7	कुरहनी	132652	8036	52655
8	मरवन	35633	2953	8215
9	मीनापुर	99432	6280	8115
10	मोतीपुर	79096	5099	7102
11	मुरौल	15373	849	841
12	मुशहरी	43828	3964	3958
13	पारू	99774	5425	24909
14	साहेबगंज	60197	2500	11683
15	सकरा	59196	3139	6127
16	सरैया	98507	5025	40449
	कुल	1120273	61439	229753

3. उज्ज्वला योजना

प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना भारत सरकार द्वारा 1 मई 2016 को प्रारंभ की गई । यह एक ऐतिहासिक सामाजिक कल्याण योजना है, जिसका उद्देश्य देश के गरीब परिवारों, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं को स्वच्छ रसोई ईंधन (एलपीजी) उपलब्ध कराना है। योजना का संचालन पेट्रोलियम एवं प्राकृतिक गैस मंत्रालय द्वारा किया जाता है। इससे पहले ग्रामीण और गरीब परिवार भोजन पकाने के लिए लकड़ी, गोबर के उपले और कोयले जैसे पारंपरिक ईंधनों का उपयोग करते थे, जिससे घरों में अत्यधिक धुआँ फैलता था और महिलाओं तथा बच्चों में श्वसन व नेत्र संबंधी बीमारियाँ फैलती थीं। इस समस्या के समाधान के लिए प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना की शुरुआत की गई, ताकि प्रत्येक

4. प्रधानमंत्री जन-धन योजना (PMJDY)

जन-धन योजना भारत सरकार की एक महत्वाकांक्षी वित्तीय समावेशन योजना है, जिसे 28 अगस्त 2014 को प्रारंभ किया गया था। इस योजना का मुख्य उद्देश्य उन लोगों को औपचारिक बैंकिंग प्रणाली से जोड़ना है जो अब तक बैंकिंग सेवाओं से वंचित थे। इसके अंतर्गत हर नागरिक को शून्य शेष बैंक खाता, डेबिट कार्ड, बीमा सुरक्षा, और सरकारी लाभों का सीधा हस्तांतरण (DBT) जैसी सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

5. अटल पेंशन योजना (APY)

अटल पेंशन योजना भारत सरकार की एक सामाजिक सुरक्षा योजना है, जिसे 1 जून 2015 को प्रारंभ किया गया था। इसका उद्देश्य असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों को वृद्धावस्था में आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना है। योजना का संचालन पेंशन फंड नियामक और विकास प्राधिकरण (PFRDA) द्वारा किया जाता है।

इस योजना के तहत 18 से 40 वर्ष की आयु के किसी भी भारतीय नागरिक को नामांकन की अनुमति है। सदस्य को अपनी आय के अनुसार मासिक अंशदान करना होता है, और 60 वर्ष की आयु पूरी होने पर उसे ₹1,000 से ₹5,000 प्रति माह तक की पेंशन प्राप्त होती है। यह पेंशन राशि सदस्य द्वारा किए गए अंशदान और उसके कार्यकाल पर निर्भर करती है। यदि सदस्य की मृत्यु हो जाती है, तो पेंशन उसके पति/पत्नी या नामांकित व्यक्ति को प्राप्त होती है।

6. प्रधानमंत्री किसान मानधन योजना (PM-KMY)

प्रधानमंत्री किसान मानधन योजना एक प्रमुख सामाजिक सुरक्षा योजना है, जिसे भारत सरकार ने 12 सितंबर 2019 को शुरू किया। इस योजना का उद्देश्य छोटे और सीमांत किसानों को बुढ़ापे में आर्थिक सहारा प्रदान करना है ताकि वे जीवन के अंतिम चरण में सम्मानपूर्वक जीवनयापन कर सकें। इसका संचालन कृषि और किसान कल्याण मंत्रालय द्वारा किया जाता है।

7.मुद्रा योजना

प्रधानमंत्री मुद्रा योजना (Pradhan Mantri Mudra Yojana – PMMY) भारत सरकार की एक प्रमुख वित्तीय पहल है, जिसे 8 अप्रैल 2015 को शुरू किया गया। इसका उद्देश्य छोटे उद्यमियों, स्वयंरोज़गार करने वालों और सूक्ष्म उद्योगों को बिना जमानत के ऋण उपलब्ध कराना है। इस योजना के तहत लाभार्थियों को उनके व्यवसाय की आवश्यकता के अनुसार ₹10 लाख तक का कर्ज़ दिया जाता है।

8. प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना (PMKVY)

भारत सरकार की यह एक प्रमुख कौशल विकास पहल है, जिसे 15 जुलाई 2015 को शुरू किया गया था। इस योजना का उद्देश्य युवाओं को रोज़गार योग्य व्यावसायिक प्रशिक्षण देकर उन्हें आत्मनिर्भर बनाना है। योजना का संचालन कौशल विकास और उद्यमिता मंत्रालय (MSDE) द्वारा किया जाता है और इसे राष्ट्रीय कौशल विकास निगम (NSDC) के माध्यम से लागू किया जाता है।

इस योजना के अंतर्गत 18 से 35 वर्ष तक के युवाओं को विभिन्न क्षेत्रों — जैसे निर्माण, ऑटोमोबाइल, आईटी, स्वास्थ्य, पर्यटन, कृषि और सेवा क्षेत्र — में मुफ़्त प्रशिक्षण और प्रमाणपत्र प्रदान किए जाते हैं।

9. दीनदयाल अंत्योदय योजना – राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (DAY-NRLM)

यह भारत सरकार की एक महत्वपूर्ण ग्रामीण विकास योजना है, जिसे जून 2011 में शुरू किया गया था। वर्ष 2015 में इसका नाम बदलकर "दीनदयाल अंत्योदय योजना" रखा गया। इस योजना का संचालन ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा किया जाता है।

इस योजना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण गरीब परिवारों, विशेषकर महिलाओं को स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से संगठित कर सामाजिक, आर्थिक और वित्तीय रूप से सशक्त बनाना है। योजना के तहत महिलाओं को समूहों के माध्यम से बचत, ऋण, प्रशिक्षण और आजीविका के विविध अवसर प्रदान किए जाते हैं।

10. सात निश्चय योजना

सात निश्चय योजना बिहार सरकार की एक महत्त्वाकांक्षी विकास योजना है, जिसकी शुरुआत वर्ष 2015 में राज्य के समग्र और समावेशी विकास के उद्देश्य से की गई। इस योजना का मुख्य लक्ष्य बुनियादी सुविधाओं का विस्तार, युवाओं को सशक्त बनाना, महिलाओं की भागीदारी बढ़ाना तथा ग्रामीण-शहरी क्षेत्रों में आधारभूत संरचना को मजबूत करना है। यह योजना मुख्यतः आम नागरिकों, विशेषकर गरीब, ग्रामीण और वंचित वर्गों के जीवन स्तर को सुधारने पर केंद्रित है।

सात निश्चय योजना को दो चरणों में लागू किया गया—सात निश्चय (पहला चरण) और सात निश्चय–2 (दूसरा चरण)। पहले चरण में बुनियादी सुविधाओं पर जोर दिया गया, जबकि दूसरे चरण में मानव संसाधन विकास, रोजगार और आत्मनिर्भरता पर विशेष ध्यान दिया गया।

11.महिला और शिक्षा आधारित योजनाएँ

राज्य सरकार ने महिलाओं की शिक्षा और सामाजिक भागीदारी को बढ़ावा देने हेतु कई योजनाएँ लागू की हैं। उदाहरण के लिए, मुख्यमंत्री बालिका साइकिल योजना के अंतर्गत कक्षा 9 में अध्ययनरत बालिकाओं को एक-बारगी 3,000 रुपये आर्थिक सहायता के रूप दी जाती है, जिससे उन्हें स्कूल पहुँचने के लिए साइकिल खरीदने में मदद मिलती है; इस योजना के माध्यम से अब तक लगभग 67 लाख बालिकाएं लाभान्वित हुई हैं।

12.अल्पसंख्यक, अनुसूचित जाति/जनजाति और पिछड़े वर्ग कल्याण योजनाएँ

बिहार राज्य सरकार ने सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों तथा अल्पसंख्यक समुदायों के सशक्तिकरण के लिए कई योजनाएँ चलाई हैं। शिक्षा क्षेत्र में समान अवसर सुनिश्चित करने के लिए पोस्ट-मैट्रिक छात्रवृत्ति और अल्पसंख्यक छात्रवृत्ति जैसी योजनाएँ चलाई जा रही हैं, जिनके तहत छात्र कक्षा 11 से स्नातकोत्तर स्तर तक पढ़ाई के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकते हैं। इसके अलावा, मुख्यमंत्री अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति छात्रावास अनुदान योजना के तहत छात्रावास में रहने वाले SC/ST छात्रों को मासिक अनुदान मिलता है, और सिविल सेवा प्रोत्साहन योजना UPSC/BPSC में सफल SC/ST छात्रों को प्रोत्साहन राशि प्रदान करती है।

निष्कर्ष

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि बिहार में गरीबी निवारण कार्यक्रमों का स्वरूप समय के साथ उल्लेखनीय रूप से परिवर्तित हुआ है। प्रारंभिक चरण में जहाँ योजनाएँ मुख्यतः राहत एवं अनुदान पर आधारित थीं, वहीं वर्तमान में उनका दृष्टिकोण आजीविका सृजन, वित्तीय समावेशन, महिला सशक्तिकरण, सामाजिक सुरक्षा तथा कौशल विकास की ओर उन्मुख हो गया है। महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम ने ग्रामीण रोजगार सृजन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जबकि प्रधानमंत्री आवास योजना और प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना जैसी योजनाओं ने आवासीय सुविधा और स्वच्छ ऊर्जा उपलब्ध कराकर जीवन स्तर में सुधार किया है। वित्तीय समावेशन के क्षेत्र में प्रधानमंत्री जन-धन योजना तथा सामाजिक सुरक्षा के लिए अटल पेंशन योजना और प्रधानमंत्री किसान मानधन योजना ने गरीब एवं असंगठित वर्ग को सुरक्षा प्रदान की है।

बिहार में सात निश्चय योजना तथा दीनदयाल अंत्योदय योजना – राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन के माध्यम से महिला सशक्तिकरण, आधारभूत संरचना विकास और आत्मनिर्भरता को बढ़ावा मिला है। यद्यपि योजनाओं के सकारात्मक परिणाम सामने आए हैं, फिर भी भ्रष्टाचार, पारदर्शिता की कमी, जागरूकता का अभाव, प्राकृतिक आपदाएँ और स्थायी रोजगार की सीमित उपलब्धता जैसी चुनौतियाँ बनी हुई हैं। अतः गरीबी उन्मूलन की दिशा में निरंतर सुधार, प्रभावी निगरानी एवं समन्वित नीति दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

सुझाव

- बिहार में गरीबी उन्मूलन को प्रभावी बनाने के लिए कौशल विकास एवं औद्योगिकीकरण को प्राथमिकता देना आवश्यक है। लघु, कुटीर एवं मध्यम उद्योगों के विस्तार तथा स्थानीय संसाधनों पर आधारित उद्यमों को बढ़ावा देकर युवाओं को बाज़ारोन्मुख प्रशिक्षण और सस्ती ऋण सुविधा प्रदान की जानी चाहिए।
- कृषि सुधार के अंतर्गत वैज्ञानिक भंडारण, प्रसंस्करण और सुदृढ़ विपणन व्यवस्था विकसित करना आवश्यक है। किसानों को आधुनिक तकनीक, गुणवत्तापूर्ण बीज और सस्ती ऋण सुविधा उपलब्ध कराई जाए।
- योजनाओं के प्रभावी क्रियान्वयन हेतु पारदर्शिता और सुशासन को सुदृढ़ करना अनिवार्य है। प्रत्यक्ष लाभ अंतरण (DBT), सामाजिक अंकेक्षण और नियमित निगरानी को मजबूत किया जाए।

- शिक्षा एवं महिला सशक्तिकरण पर निरंतर निवेश समावेशी विकास की कुंजी है। शैक्षणिक आधारभूत संरचना और कौशल प्रशिक्षण का विस्तार किया जाए तथा स्वयं सहायता समूहों को सहयोग प्रदान किया जाए।
- स्थायी रोजगार और आपदा प्रबंधन को भी समान महत्व दिया जाना चाहिए। मनरेगा को कौशल-आधारित प्रशिक्षण से जोड़कर दीर्घकालिक आजीविका सुनिश्चित की जाए। बाढ़ प्रभावित क्षेत्रों के लिए विशेष पुनर्वास और आजीविका योजनाएँ लागू कर आर्थिक सुरक्षा को मजबूत किया जा सकता है।

संदर्भ (References)

1. ग्रामीण विकास मंत्रालय. (2024–2025). मनरेगा एवं राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन वार्षिक प्रतिवेदन। भारत सरकार।
2. नीति आयोग. (2023). राष्ट्रीय बहुआयामी गरीबी सूचकांक रिपोर्ट।
3. बिहार सरकार. (विभिन्न वर्ष). आर्थिक सर्वेक्षण एवं सात निश्चय योजना प्रतिवेदन।
4. कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रालय. (2023). प्रधानमंत्री किसान मानधन योजना विवरण। भारत सरकार।
5. पेट्रोलियम एवं प्राकृतिक गैस मंत्रालय. (2024). प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना प्रगति रिपोर्ट। भारत सरकार।
6. दत्त एवं सुंदरम, भारतीय अर्थव्यवस्था। (नवीनतम संस्करण). एस. चंद प्रकाशन।
7. उमा कपिला (संपादक), भारतीय अर्थव्यवस्था। (नवीनतम संस्करण). अकादमिक फाउंडेशन।
8. अमर्त्य सेन, गरीबी और अकाल (Poverty and Famines)। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
9. माइकल पी. टोडारो एवं स्टीफन सी. स्मिथ, आर्थिक विकास (Economic Development)। पियर्सन पब्लिकेशन।
10. सांख्यिकी और कार्यक्रम क्रियान्वयन मंत्रालय. (2023). भारत का सामाजिक-आर्थिक सांख्यिकीय प्रतिवेदन।
11. https://www.niti.gov.in
12. https://state.bihar.gov.in

लोकतन्त्र और अधिनायकवाद

श्री गुलाब चन्द्र*

लोकतंत्र और अधिनायकवाद राजनीति विज्ञान की दो प्रमुख एवं परस्पर विरोधी शासन प्रणालियाँ हैं। लोकतंत्र जनता की संप्रभुता, राजनीतिक सहभागिता, विधि का शासन तथा मौलिक अधिकारों पर आधारित व्यवस्था है, जबकि अधिनायकवाद सत्ता के केंद्रीकरण, सीमित स्वतंत्रताओं और शासक वर्ग के प्रभुत्व को दर्शाता है। यह शोधपत्र इन दोनों अवधारणाओं का सैद्धांतिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है तथा यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि किस प्रकार सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियाँ, ऐतिहासिक अनुभव और राजनीतिक संस्कृति शासन प्रणालियों को आकार देती हैं और यह समझाने का प्रयास करता है कि ये प्रणालियाँ किन आधारों पर एक–दूसरे से भिन्न हैं? तथा आधुनिक राजनीति में इनकी क्या भूमिका है?

प्रस्तावना :

राजनीतिक शासन प्रणालियाँ किसी भी समाज की शक्ति संरचना, नागरिक अधिकारों और राजनीतिक संस्कृति को निर्धारित करती हैं। लोकतंत्र और अधिनायकवाद इस संदर्भ में दो अत्यंत महत्वपूर्ण लेकिन विपरीत अवधारणाएँ हैं। आधुनिक राजनीति विज्ञान में इन दोनों का अध्ययन केवल शासन की तकनीक के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक–नैतिक मूल्यों के प्रतिबिंब के रूप में किया जाता है। लोकतंत्र की अवधारणा प्राचीन यूनान से लेकर आधुनिक राष्ट्र–राज्यों तक विकसित होती रही है। इसमें जनता की भागीदारी, स्वतंत्र चुनाव, बहुदलीय व्यवस्था, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और कानून के समक्ष समानता जैसे तत्व निहित होते हैं। रॉबर्ट डाहल के अनुसार लोकतंत्र केवल चुनावी प्रक्रिया नहीं, बल्कि निरंतर राजनीतिक सहभागिता और संस्थागत जवाबदेही की व्यवस्था है। इसके विपरीत, अधिनायकवाद ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें सत्ता एक व्यक्ति, दल या अभिजात वर्ग के हाथों में केंद्रित होती है। इसमें राजनीतिक बहुलता सीमित होती है और राज्य नागरिक जीवन के अधिकांश पहलुओं पर नियंत्रण स्थापित करता है। बीसवीं शताब्दी में नाजी जर्मनी, फासीवादी इटली और स्तालिनवादी सोवियत संघ अधिनायकवादी शासन के प्रमुख उदाहरण रहे हैं।

आज के वैश्विक संदर्भ में यह बहस और भी जटिल हो गई है। कई देशों में औपचारिक लोकतांत्रिक संस्थाएँ मौजूद हैं, लेकिन व्यवहार में अधिनायकवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं, जिसे "हाइब्रिड रेजीम" या "निर्वाचित अधिनायकवाद" कहा जाता है। इस स्थिति में लोकतंत्र और अधिनायकवाद के बीच की सीमाएँ धुंधली होती जा रही हैं।

लोकतंत्र की सैद्धांतिक संरचना और विशेषताएँ

लोकतंत्र आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत की सबसे केंद्रीय अवधारणाओं में से एक है। इसे केवल एक शासन प्रणाली के रूप में नहीं, बल्कि एक राजनीतिक–सामाजिक मूल्य व्यवस्था के रूप में समझा जाता है। लोकतंत्र की सैद्धांतिक संरचना इस मूल मान्यता पर आधारित है कि सत्ता का अंतिम स्रोत जनता होती है और शासन की वैधता जनता की सहमति से प्राप्त होती है। यही तत्व लोकतंत्र को अधिनायकवादी और निरंकुश व्यवस्थाओं से मौलिक रूप से भिन्न बनाता है। लोकतंत्र की सैद्धांतिक नींव जनता की संप्रभुता पर टिकी होती है। जीन जैक्स रूसो ने 'सामान्य इच्छा' की अवधारणा के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि राज्य की सत्ता किसी व्यक्ति या वर्ग में निहित न होकर संपूर्ण जनता में निहित होती है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में शासक केवल जनता के प्रतिनिधि होते हैं, न कि सत्ता के स्वामी। यह सिद्धांत लोकतंत्र को नैतिक वैधता प्रदान करता है और यह सुनिश्चित करता है कि शासन जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप हो।

लोकतंत्र की एक प्रमुख सैद्धांतिक विशेषता राजनीतिक समानता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक नागरिक को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। चाहे वह मताधिकार हो, चुनाव लड़ने का अधिकार हो या राजनीतिक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता। जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार लोकतंत्र का वास्तविक उद्देश्य केवल शासन करना नहीं, बल्कि व्यक्ति के नैतिक और बौद्धिक विकास को संभव बनाना है। इस दृष्टि से

* असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, जवाहर लाल नेहरू स्मारक पी0 जी0 कॉलेज, महराजगंज

लोकतंत्र नागरिक स्वतंत्रताओं जैसे विचार, अभिव्यक्ति, संगठन और आंदोलन की स्वतंत्रता को केंद्रीय महत्व देता है।

लोकतंत्र की सैद्धांतिक संरचना में प्रतिनिधि व्यवस्था का विशेष स्थान है। आधुनिक विशाल राष्ट्र–राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र व्यावहारिक नहीं होने के कारण प्रतिनिधि लोकतंत्र विकसित हुआ। इसमें जनता नियमित चुनावों के माध्यम से अपने प्रतिनिधियों का चयन करती है। रॉबर्ट डाहल ने लोकतंत्र को "पॉलीआर्की" के रूप में परिभाषित किया, जिसमें प्रतिस्पर्धी राजनीति, बहुदलीय व्यवस्था और व्यापक राजनीतिक सहभागिता शामिल होती है। सहभागिता लोकतंत्र को केवल संस्थागत नहीं, बल्कि जीवंत प्रक्रिया बनाती है।

लोकतंत्र की सैद्धांतिक संरचना का एक अनिवार्य तत्व विधि का शासन है। इसका अर्थ है कि शासन कानून द्वारा संचालित हो, न कि व्यक्तियों की इच्छा से। लोकतंत्र में शासक और शासित दोनों कानून के अधीन होते हैं। ए. वी. डायसी के अनुसार विधि का शासन मनमानी सत्ता पर नियंत्रण स्थापित करता है और नागरिक अधिकारों की रक्षा करता है। लोकतंत्र में कानून स्वतंत्र न्यायपालिका द्वारा लागू किया जाता है, जिससे सत्ता के दुरुपयोग की संभावना कम होती है।

लोकतंत्र की सैद्धांतिक संरचना सत्ता के केंद्रीकरण के बजाय विकेंद्रीकरण पर आधारित होती है। मॉन्टेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण सिद्धांत के अनुसार विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच सत्ता का विभाजन आवश्यक है। इस व्यवस्था का उद्देश्य सत्ता के दुरुपयोग को रोकना और संस्थागत संतुलन बनाए रखना है। लोकतंत्र में 'चेक्स एंड बैलेंस' प्रणाली सत्ता को उत्तरदायी बनाती है।

लोकतंत्र की एक महत्वपूर्ण विशेषता राजनीतिक और सामाजिक बहुलवाद है। लोकतांत्रिक सिद्धांत यह स्वीकार करता है कि समाज में विभिन्न विचार, हित और पहचानें सह–अस्तित्व में रहती हैं। यह व्यवस्था असहमति को अवैध नहीं, बल्कि लोकतंत्र का अनिवार्य तत्व मानती है। सहिष्णुता, संवाद और समझौते की संस्कृति लोकतंत्र को स्थायित्व प्रदान करती है।

लोकतंत्र की सैद्धांतिक संरचना में जवाबदेही का विशेष महत्व है। सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और चुनाव, संसद, मीडिया तथा नागरिक समाज के माध्यम से उस पर निरंतर निगरानी रहती है। पारदर्शिता लोकतंत्र को विश्वसनीय बनाती है और नागरिकों को शासन प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी के लिए प्रेरित करती है।

सैद्धांतिक दृष्टि से लोकतंत्र केवल राजनीतिक व्यवस्था नहीं, बल्कि एक जीवन–पद्धति है। यह व्यक्ति की गरिमा, स्वतंत्रता और समानता को सामाजिक व्यवहार में भी प्रतिबिंबित करता है। बी. आर. अम्बेडकर ने लोकतंत्र को "सामाजिक और नैतिक आदर्शों का प्रयोगात्मक रूप" कहा, जो राजनीतिक संस्थाओं से आगे जाकर समाज के हर स्तर पर प्रभाव डालता है।

यद्यपि लोकतंत्र आदर्श शासन प्रणाली मानी जाती है, परंतु इसकी सैद्धांतिक संरचना में कुछ अंतर्निहित सीमाएँ भी हैं। बहुमत का अत्याचार, धन और मीडिया का प्रभाव, तथा जनलोकप्रियता लोकतंत्र की गुणवत्ता को प्रभावित कर सकते हैं। राजनीति विज्ञान में यह स्वीकार किया गया है कि लोकतंत्र को निरंतर संस्थागत सुधार और नागरिक चेतना की आवश्यकता होती है। लोकतंत्र की सैद्धांतिक संरचना स्वतंत्रता, समानता, सहभागिता और जवाबदेही जैसे मूल मूल्यों पर आधारित है। इसकी विशेषताएँ इसे न केवल एक शासन प्रणाली बनाती हैं, बल्कि एक नैतिक–राजनीतिक आदर्श के रूप में स्थापित करती हैं। यद्यपि व्यवहार में लोकतंत्र अनेक चुनौतियों का सामना करता है, फिर भी सैद्धांतिक स्तर पर यह मानव गरिमा और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सबसे उपयुक्त व्यवस्था मानी जाती है।

अधिनायकवाद का सैद्धांतिक स्वरूप और कार्यप्रणाली

अधिनायकवाद राजनीति विज्ञान की एक ऐसी अवधारणा है जो सत्ता के पूर्ण केंद्रीकरण, नागरिक स्वतंत्रताओं के क्षरण और राज्य के सर्वव्यापी नियंत्रण पर आधारित होती है। यह केवल एक दमनकारी शासन व्यवस्था नहीं है, बल्कि एक संपूर्ण राजनीतिक–सामाजिक प्रणाली है, जो नागरिक जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र को नियंत्रित करने का प्रयास करती है। लोकतंत्र जहाँ सहमति, सहभागिता और उत्तरदायित्व पर आधारित है, वहीं अधिनायकवाद आज्ञाकारिता, अनुशासन और नियंत्रण को प्राथमिकता देता है।

'अधिनायकवाद' शब्द का प्रयोग पहली बार बीसवीं शताब्दी में उन राजनीतिक व्यवस्थाओं के लिए किया गया जिनमें राज्य की सत्ता असीमित और सर्वशक्तिमान हो जाती है। हन्ना अरेन्ड्ट ने अधिनायकवाद को ऐसी शासन प्रणाली के रूप में परिभाषित किया जिसमें राज्य केवल राजनीतिक सत्ता तक सीमित न

रहकर समाज, विचार और निजी जीवन तक हस्तक्षेप करता है। इसका सैद्धांतिक आधार यह मानता है कि राज्य किसी उच्च उद्देश्य जैसे राष्ट्र, जाति, विचारधारा या क्रांति का प्रतिनिधित्व करता है और उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता का त्याग आवश्यक है।

अधिनायकवाद की सबसे प्रमुख सैद्धांतिक विशेषता सत्ता का अत्यधिक केंद्रीकरण है। इसमें राजनीतिक शक्ति एक व्यक्ति, एक दल या एक संकीर्ण अभिजात वर्ग के हाथों में निहित होती है। नेतृत्व को करिश्माई, सर्वज्ञ और अपराजेय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह नेतृत्व स्वयं को राष्ट्र या विचारधारा का अवतार घोषित करता है, जिससे उसकी आलोचना राष्ट्रद्रोह या विचारधारात्मक अपराध बन जाती है। परिणामस्वरूप सत्ता पर कोई वास्तविक संस्थागत नियंत्रण नहीं रह जाता। अधिनायकवादी शासन की कार्यप्रणाली का एक केंद्रीय तत्व एकाधिकारिक विचारधारा है। यह विचारधारा शासन को नैतिक और ऐतिहासिक वैधता प्रदान करती है। चाहे वह फासीवाद हो, नाजीवाद हो या स्तालिनवादी साम्यवाद हर अधिनायकवादी व्यवस्था ने एक सर्वग्राही विचारधारा का निर्माण किया। प्रचार तंत्र के माध्यम से इस विचारधारा को समाज में गहराई तक स्थापित किया जाता है। मीडिया, शिक्षा और सांस्कृतिक संस्थानों का उपयोग सत्ता के पक्ष में जनमत निर्माण के लिए किया जाता है।

अधिनायकवाद की कार्यप्रणाली में दमन और भय एक अनिवार्य साधन होते हैं। पुलिस, गुप्तचर एजेंसियाँ और सुरक्षा बल शासन के संरक्षण में कार्य करते हैं। इनका उद्देश्य केवल अपराध नियंत्रण नहीं, बल्कि राजनीतिक असहमति को समाप्त करना होता है। हन्ना अरेन्ड्ट के अनुसार अधिनायकवादी शासन में आतंक (ज्मततवत) केवल साधन नहीं, बल्कि शासन की स्थायी अवस्था बन जाता है। भय नागरिकों को निष्क्रिय और आज्ञाकारी बनाए रखता है। अधिनायकवादी व्यवस्था में राजनीतिक बहुलता को अस्वीकार कर दिया जाता है। विपक्षी दलों, स्वतंत्र संगठनों और नागरिक समाज की कोई वास्तविक भूमिका नहीं होती। चुनाव यदि होते भी हैं, तो वे केवल औपचारिकता होते हैं। सत्ता परिवर्तन की कोई वास्तविक संभावना नहीं होती, जिससे लोकतांत्रिक वैधता का भ्रम उत्पन्न किया जाता है। अधिनायकवाद में कानून स्वतंत्र नहीं होता, बल्कि सत्ता के अधीन होता है। न्यायपालिका शासन की इच्छा के अनुसार कार्य करती है। कानून का उद्देश्य न्याय नहीं, बल्कि नियंत्रण और दमन होता है। इस प्रकार विधि का शासन समाप्त होकर शासक की इच्छा का शासन स्थापित हो जाता है।

अधिनायकवाद की सैद्धांतिक विशेषता यह है कि वह सार्वजनिक और निजी जीवन के बीच की सीमा को समाप्त कर देता है। शिक्षा, परिवार, धर्म और संस्कृति आदि पर राज्य का नियंत्रण होता है। व्यक्ति को स्वतंत्र नागरिक के बजाय राज्य के उपकरण के रूप में देखा जाता है। व्यक्तिगत पहचान को सामूहिक पहचान में विलीन कर दिया जाता है।

समकालीन विश्व में अधिनायकवाद ने नए रूप धारण कर लिए हैं। डिजिटल निगरानी, डेटा नियंत्रण और कृत्रिम बुद्धिमत्ता के उपयोग से अधिनायकवादी शासन और अधिक प्रभावी हो गए हैं। यह "नया अधिनायकवाद" प्रत्यक्ष हिंसा की तुलना में सूक्ष्म नियंत्रण और मनोवैज्ञानिक प्रभावों पर अधिक निर्भर करता है। यद्यपि अधिनायकवाद त्वरित निर्णय और अनुशासन का भ्रम उत्पन्न करता है, परंतु इसकी सैद्धांतिक संरचना अंततः अस्थिर होती है। दमन और भय पर आधारित शासन दीर्घकाल में वैधता खो देता है। नागरिक स्वतंत्रताओं के अभाव में नवाचार, रचनात्मकता और सामाजिक विश्वास का क्षरण होता है, जिससे राज्य स्वयं कमजोर हो जाता है।

अधिनायकवाद का सैद्धांतिक स्वरूप सत्ता, विचारधारा और नियंत्रण के त्रिकोण पर आधारित है। इसकी कार्यप्रणाली नागरिक स्वतंत्रताओं को सीमित कर राज्य को सर्वशक्तिमान बना देती है। यद्यपि यह व्यवस्था अल्पकालिक स्थिरता और दक्षता का आभास देती है, परंतु दीर्घकाल में यह मानव गरिमा, स्वतंत्रता और सामाजिक विकास के लिए घातक सिद्ध होती है। राजनीति विज्ञान के दृष्टिकोण से अधिनायकवाद का अध्ययन लोकतंत्र की रक्षा और उसकी संस्थागत मजबूती को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

तुलनात्मक पक्ष :

लोकतंत्र और अधिनायकवाद का सैद्धांतिक विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि ये दोनों शासन प्रणालियाँ केवल प्रशासनिक व्यवस्थाएँ नहीं हैं, बल्कि सत्ता, स्वतंत्रता और मानव गरिमा के प्रति दो भिन्न और परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। लोकतंत्र जहाँ नागरिकों को सत्ता का स्रोत मानता है, वहीं अधिनायकवाद सत्ता को स्वयं में अंतिम सत्य के रूप में स्थापित करता है। इस मौलिक अंतर के कारण दोनों व्यवस्थाओं की संरचना, कार्यप्रणाली और सामाजिक प्रभाव एक–दूसरे से पूर्णतः भिन्न हो जाते हैं। लोकतंत्र

की सैद्धांतिक आधारशिला जनता की संप्रभुता, राजनीतिक समानता, विधि के शासन और जवाबदेही पर टिकी हुई है। यह व्यवस्था इस मान्यता को स्वीकार करती है कि मानव विवेकशील है और सार्वजनिक निर्णय–प्रक्रिया में भागीदारी के योग्य है। इसके विपरीत, अधिनायकवाद व्यक्ति पर अविश्वास करता है और मानता है कि समाज को किसी 'उच्च उद्देश्य' की प्राप्ति के लिए कठोर नियंत्रण और अनुशासन की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि अधिनायकवादी शासन नागरिक स्वतंत्रताओं को बाधा के रूप में देखता है, जबकि लोकतंत्र उन्हें शासन की आत्मा मानता है। इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि लोकतंत्र और अधिनायकवाद के बीच का संघर्ष केवल संस्थागत नहीं, बल्कि नैतिक और वैचारिक भी है। लोकतंत्र बहुलता, असहमति और संवाद को स्वीकार करता है, जबकि अधिनायकवाद एकरूपता, आज्ञाकारिता और वैचारिक प्रभुत्व पर आधारित होता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में सत्ता पर नियंत्रण और संतुलन स्थापित करने के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका, मीडिया और नागरिक समाज जैसी संस्थाएँ विकसित होती हैं, जबकि अधिनायकवादी व्यवस्था इन संस्थाओं को अपने अधीन कर लेती है या समाप्त कर देती है। समकालीन वैश्विक परिदृश्य में यह अंतर और भी जटिल हो गया है। कई देशों में औपचारिक रूप से लोकतांत्रिक संस्थाएँ विद्यमान हैं, परंतु व्यवहार में सत्ता का केंद्रीकरण, असहमति का दमन और मीडिया नियंत्रण जैसी अधिनायकवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। यह स्थिति इस बात की ओर संकेत करती है कि लोकतंत्र केवल संविधान या चुनावों से सुरक्षित नहीं होता, बल्कि उसे निरंतर संस्थागत सुदृढ़ता और नागरिक चेतना की आवश्यकता होती है। यदि लोकतांत्रिक मूल्य कमजोर पड़ते हैं, तो लोकतंत्र धीरे–धीरे अधिनायकवाद की ओर झुक सकता है। अधिनायकवाद की कार्यप्रणाली अल्पकालिक स्थिरता और त्वरित निर्णय क्षमता का भ्रम उत्पन्न कर सकती है, किंतु दीर्घकाल में यह शासन व्यवस्था आंतरिक विरोधाभासों से ग्रस्त हो जाती है। भय और दमन पर आधारित शासन वैधता का संकट उत्पन्न करता है, जिससे सामाजिक विश्वास, नवाचार और रचनात्मकता का ह्रास होता है। इतिहास गवाह है कि अधिकांश अधिनायकवादी शासन अंततः या तो आंतरिक विद्रोहों से कमजोर हुए या बाहरी दबावों के सामने टिक नहीं पाए।

लोकतंत्र कोई स्थिर या पूर्ण अवस्था नहीं है, बल्कि एक सतत प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया नागरिकों की सक्रिय भागीदारी, आलोचनात्मक चेतना और नैतिक प्रतिबद्धता पर निर्भर करती है। लोकतंत्र की मजबूती के लिए केवल संस्थाएँ ही नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक संस्कृति भी आवश्यक है, जिसमें सहिष्णुता, संवाद और कानून के प्रति सम्मान शामिल हो।

अतः यह कहा जा सकता है कि लोकतंत्र और अधिनायकवाद के बीच चयन केवल शासन की दक्षता का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह मानव गरिमा, स्वतंत्रता और सामाजिक विकास के भविष्य का प्रश्न है। यद्यपि लोकतंत्र में निर्णय–प्रक्रिया धीमी और जटिल हो सकती है, परंतु यह व्यवस्था व्यक्ति को राज्य के अधीन नहीं, बल्कि राज्य को व्यक्ति के अधीन रखती है। यही तत्व लोकतंत्र को अधिनायकवाद से नैतिक और सैद्धांतिक रूप से श्रेष्ठ बनाता है। लोकतंत्र और अधिनायकवाद का तुलनात्मक विश्लेषण न केवल अकादमिक महत्व रखता है, बल्कि समकालीन विश्व में लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा और संवर्धन के लिए भी अत्यंत आवश्यक है। मानव इतिहास की दीर्घकालिक प्रगति लोकतांत्रिक सिद्धांतों के विस्तार और अधिनायकवादी प्रवृत्तियों के निरंतर प्रतिरोध से ही संभव है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1–राजनीति सिद्धांतः एक परिचय, राजीव भार्गव एवं अशोक आचार्य, पियर्सन प्रकाशन ,2025
2–पोलिटिकल थ्योरीः आइडियाज एंड कॉनसेप्ट्स, सुशीला रामास्वामी, पी एच आई लर्निंग प्रकाशन,2010
3–कंटेम्परेरी पोलिटिकल थ्योरी,एम जे विनोद एवं मीना देशपांडे, पी एच आई लर्निंग प्रकाशन ,2013
4–पॉलिटिक्स एंड्रयू हेवुड ,प्रकाशन–पेलग्रेव मैकमिलन लंदन, 2019
5–समकालीन राजनीतिक चिन्तन प्रो श्री प्रकाश मणि त्रिपाठी राज पब्लिकेशंस, 2011
6- Speech in the Constituent Assembly., B. R. Ambedkar,(1949). New Delhi: Government of India Publications.

विलाप–काव्यों में वर्णित मार्मिकता

डॉ. नेहा*

मार्मिकता का सम्बन्ध ऐसी भावना से है, जो सीधे सहृदय के हृदय को गहराई से प्रभावित करती है। इसमें मनुष्य के भीतर करुणा, दया ,सहानुभूति अथवा गहरा भावोद्वेग उत्पन्न होता है। जो विलाप प्रसङ्ग शोक से उत्पन्न होते हैं, वे स्वतः अत्यन्त मार्मिक होते हैं।

प्रियजन के वियोग, सम्पत्ति नाश, इष्ट व्यक्ति का वध, अथवा बंधन और दुःख के अनुभव से शोक उत्पन्न होता है। साहित्यदर्पणकार का मत है कि चित्त की विह्वलता से शोक उत्पन्न होता है। इसमें अश्रुपात, विलाप, पश्चाताप, विवर्ण, भूमि–पतन, स्वरभेद, जडता, उन्माद आदि का वर्णन होता है।

विलाप वर्णन संस्कृत के विभिन्न ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं। इन विलाप वर्णनों में मर्मोदभेदी संवाद वर्णित हैं। आदिकाव्य रामायण और महाभारत में विभिन्न विलाप प्रसङ्गों का वर्णन है। रामायण तो करुण रस प्रधान महाकाव्य है। इस काव्य की प्रेरणा महर्षि वाल्मीकि को तमसा नदी के तट पर काममोहित क्रौंचयुगल में व्याध द्वारा हत नर क्रौंच पक्षी की मृत्यु पर मादा क्रौंच पक्षी के रुदन को देखकर हुई। ऐसा मार्मिक दृश्य देखकर महर्षि वाल्मीकि के मुख से श्लोक निकला –

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

रामायण के उपजीव्य ग्रन्थों में भी विलाप वर्णन देखा जाता है। जैसे– उत्तररामचरितम् नाटक के तृतीय अङ्क में राम का विलाप इतना मर्मस्पर्शी है कि सहृदय भी राम के साथ रोने लगता है। राम सीता से बहुत प्रेम करते हैं। अपवाद के कारण राम ने सीता का परित्याग किया है। परित्याग के बाद भी राम का एकपत्नीव्रत नहीं टूटता है। यज्ञ के अवसरों पर सीता के स्थान पर उनकी प्रतिमा रखकर यज्ञों का संपादन करते हैं। राम का सीता के प्रति प्रेम अगाध है और यह प्रगाढ़ प्रेम ही सीता के वियोग को दुःसह बना रहा है। राम उत्तररामचरितम् के तृतीय अंक में सीता के लिए करुण रुदन कर रहे हैं–

दलति हृदयं शोकोद्वेगाद् द्विधा तु न भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्।।[1]

अर्थात् हृदय फट रहा है परन्तु दो टुकड़ों में विभक्त नहीं हो रहा है । शरीर मूर्छित हो रहा है किन्तु अचेतन नहीं हो रहा है। शरीर संतप्त है किन्तु भस्मसात् नहीं हो रहा है। दैव प्रहार कर रहा है किन्तु मेरे प्राणों का हरण नहीं कर रहा है।

उक्त संवादों में राम की जो भाव–विह्वलता दिखती है, वह सहृदय के मर्मस्थल का भेदन करने वाली है। भवभूति यहीं नहीं रुकते बल्कि पुनः राम से कहलवाते हैं–

हा हा देवि ! स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ् मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि।।[2]

अर्थात् हे सीता! मेरा हृदय फट रहा है और अंग शिथिल हो रहे हैं। संसार सूना हो गया और मेरा हृदय जल रहा है। घोर अंधकार से मेरी आत्मा डूब रही है और चारों ओर से मूर्छा घेर रही है। मैं अभागा क्या करूं ?

अतएव राम विलाप में जो स्वयं को धिक्कारे हुए अपनी अवस्था का वर्णन कर रहे हैं निसंदेह ही यह मर्मस्थल का भेदन करने वाला है। इतना ही नहीं राम मूर्छित होकर जमीन पर गिर जाते हैं। राम जैसे

* असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, विद्यान्त हिन्दू डिग्री कालेज, लखनऊ

[1] उत्तररामचरितम्, 3/31

[2] उत्तररामचरितम्, 3/38

धीरोदात्त प्रकृति के नायक को कैसे भवभूति ने कारुणिक विलाप कराया है। यह निश्चित रूप से चमत्कारी है। राम का दुःख असहनीय है पत्नी के बिना संसार सूना हो जाता है और हृदय शोक रूपी तुषाग्नि में जलता–सा रहता है। राम को सीता से बहुत प्रेम था। राम अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करते हुए कहते हैं कि यह मेरी गृहलक्ष्मी है, मेरी आंखों के लिए अमृतशलाका है, इसका स्पर्श चंदन के लेप के समान शीतल है, गले में पड़ा हुआ हाथ शीतल मोती की माला जैसा है। इसकी सभी बातें अतिप्रिय हैं। इसलिए यदि विरह होगा, तो बड़ा ही कष्टकारी और असह्य होगा।

संस्कृत के प्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंशम् में रघु–विलाप और कुमारसंभवम् में रति–विलाप भी अपने उत्कर्ष में देखने को मिलते हैं। कुमारसंभवम् में कामदेव को जब शंकर ने अपने त्रिनेत्र से भस्मीभूत किया था, तो मृत पति के लिए पत्नी रति का जो मार्मिक विलाप है, वह सभी को रति के साथ–साथ रुदन को मजबूर कर देता है। रति अपने मृत पति को देखकर विलाप करती हुई कहती हैं कि जिस अनुपम रूप सौंदर्य के कारण तुम्हारा शरीर विलासी जनों का उपमान हुआ करता था उसकी यह दशा हो गई अर्थात् पुरुष आकार में पड़ी हुई भस्ममात्र रह गई और यह देखकर मेरा हृदय फट नहीं गया, सचमुच ही स्त्रियां बहुत कठोर होती हैं। रति के कहने का अभिप्राय यह है कि असहनीय दुःख है, परिणामस्वरूप मेरा हृदय फट जाना चाहिए परन्तु स्त्रियां कठोर होती हैं, इसलिए हृदय नहीं फटा।

रति विलाप करते हुए संयोग काल की बातें याद कर रही है कि तुमने एक बार भूल बस किसी अन्य प्रिया का नाम ले लिया था और मैं अपनी मेखला से तुम्हें बांधकर मैंने कान में पहने कमल से पीटा था, जिससे कमल का पराग तुम्हारी आंख में जाने से आंख में पीड़ा हुई थी, इस कारण से तो शायद तुम मुझसे नहीं रूठे हो? मैंने कभी भी अपको रुष्ट करने वाली बात नहीं कही है और न ही मैंने ऐसा कोई काम किया है, फिर भी तुम अपने दर्शन से वंचित क्यों कर रहे हो और सोच रही है कि मेरे प्रिय तो कहते थे कि मैं उनके हृदय में रहती हूं परन्तु यह तो अब गलत सिद्ध हो रहा है क्योंकि ऐसा होता तो निश्चित ही मैं भी भस्मीभूत हो जाती। आपके भस्म हो जाने पर मैं अक्षत कैसे रहती? विलाप के प्रसंग में रतिकाल का स्मरण वेदना को कई गुना कर देता है। रति संयोग काल की बातें याद कर रही है कि हे रतिपंडित! तुमने अपने हाथों से बसंत पुष्पों द्वारा मेरा श्रृंगार किया था और मैं उन पुष्पाभरणों को धारण की हूं परन्तु तुम्हारा सुंदर शरीर दिखाई नहीं दे रहा है, तुमने अभी मेरे दाहिने पैर में महावर लगा पाई थी कि देवताओं ने तुम्हें कार्यवश् बुला लिया था। प्रिय मेरे बाएं पैर में भी महावर लगाकर अधूरे कार्य को पूर्ण कर दो। प्रिय तुम धनुष को गोद में रखकर बाण को सीधा करते हुए बसंत से वार्तालाप करते थे तथा तिरछी चितवन से मुझे देखा करते थे। वह मुझे किसी भी तरह नहीं भुलाता है।

विलाप में जब कोई घनिष्ठ व्यक्ति शोकाकुल व्यक्ति से मिलता है, तो शोकाकुल व्यक्ति का शोक और अधिक बढ़ जाता है। जैसे ही बसंत रति को सांत्वना देने के लिए रति के सामने आता है मानो दुःख का द्वार ही खुल जाता है। बसंत को देखकर रति छाती पीट–पीटकर रोती है। कामदेव के मित्र बसंत के सामने रति विलखते हुए कहती है कि आपके मित्र कामदेव की ये क्या दशा हो गई। कबूतर के रंग वाले कामदेव की इस भस्म को वायु यत्र–तत्र बिखेर रही है। हे कामदेव! अब तो दर्शन दो, बसंत तुम्हारे दर्शन के लिए उत्सुक होकर खड़ा है। पुरुषों का प्रेम स्त्रियों से अधिक दृढ़ हो या न हो परन्तु मित्र के साथ अचल रहता है। नियति को ललकारती हुई रति कहती है कि नियत ने कामदेव का वध करके और मुझे जीवित छोड़कर वध का अधूरा कार्य किया है क्योंकि लता को आश्रय देने वाले वृक्ष को हाथी जब तोड़ता है, तो उसके सहारे लिपटी लता भी गिर जाती है। ऐसे रोते हुए बसंत से कहती है कि हे वसंत! अब बन्धुत्व के नाते इतना कार्य अवश्य करो कि मेरे लिए भी चिता तैयार करके मुझे भी कामदेव के पास पहुंचा दो।[3]

रघुवंशम् में अज–विलाप की मार्मिकता भी सर्वथा हृदयस्पर्शी है। रानी इन्दुमती के उपर जब माला का आघात होता है और वह मृत्यु को प्राप्त हो जाती हैं, इसको देखकर अज भी अचेतन होकर पृथ्वी पर गिर पडते है और कुछ समय पश्चात् विविध उपायों से उन्हें होश आ जाता है। इस पर उलाहना देते हुए अज विलाप करते हुए कहते है कि अहो! मेरा यह जीवन यदि मेरी प्रिया के पीछे चला गया था तो फिर किस निमित्त यह लौट आया है। इन्दुमती को गोद में रखकर और अपनी स्वाभाविक धीरता को त्यागकर विलाप

[3] कुमारसंभवम्, चतुर्थ सर्ग, रति विलाप

करते है। ऐसी अवस्था को देखकर तपा लोहा भी कोमल हो जाता है तो फिर शरीरधारियों की बात ही क्या?–

विललाप स बाष्पगद्‌गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु[4]।।

अज विलाप करते हुए इन्दुमती को सम्बोधित करते है कि मैने मन से भी तुम्हारा अप्रिय पहले कभी नहीं किया है तो तुम मुझे क्यों छोड रही हो। मैं निश्चित ही नाममात्र का पृथ्वीपति हूं परन्तु तुममें स्वाभाविक प्रेम है। हे प्रिय !रात्रि चन्द्रमा को तथा चकई चकवे को पुनः प्राप्त करती है। अतः वे दोनों विरह के मध्यभाग को सहन करने में समर्थ होते हैं परन्तु तुम तो हमेशा के लिए चली गई तो भला मुझे क्यों सन्तप्त नहीं करोगी। आज मेरा धैर्य टूट गया ,प्रेम नष्ट हो गया ,ऋतु उत्सवशून्य हो गई। भूषण पहनने का प्रयोजन समाप्त हो गया और शैया शून्य हो गई। तुम मेरी गृहणी ,मन्त्री ,एकान्त की सखी और मनोहर कलाओं के प्रयोग में प्रिय शिष्या थी । तुमको हरण करते हुए निर्दय मृत्यु ने मेरा क्या –क्या हरण नहीं किया–

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्।।[5]

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण देखे जा सकते है। महाभारत के स्त्री पर्व के 24वें अध्याय में रणभूमि में कटकर गिरे हुए भूरिश्रवा के हाथ को देखकर उसकी पत्नी विलाप करते हुए कह रही है कि यह करघनी को खींचने वाला, पीन स्तनों का मर्दन करने वाला, नाभि, उरु तथा जघनस्थल का स्पर्श करने वाला तथा नीवी को खोलने वाला यह मेरे पति का अत्यंत प्रिय हाथ है–

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः।।

अतः कहा जा सकता है कि करुण रस में मार्मिकता इसलिए प्रभावशाली होती है क्योंकि वह मानव जीवन की सार्वभौमिक संवेदनाओं जैसे प्रेम ,वियोग व पीडा आदि को स्पर्श करती है। संस्कृत साहित्य में इनका सजीव चित्रण हुआ है यही कारण है कि करुण रस सहृदय के हृदय में गहरी संवेदना जगा देता है।

[4] रघुवंशम्–8/43

[5] रघुवंशम्–8/67

माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण में संबंध का अध्ययन

डॉ. राजेन्द्र कुमार जायसवाल*

सारांश

वर्तमान युग को डिजिटल युग कहा जाता है, जहाँ सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी ने शिक्षा के स्वरूप को व्यापक रूप से परिवर्तित किया है। डिजिटल जागरूकता आज विद्यार्थियों के लिए एक आवश्यक शैक्षिक दक्षता बन चुकी है। वहीं, विद्यालय वातावरण विद्यार्थियों के संज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक है। प्रस्तुत शोध का उद्देश्य माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण के मध्य संबंध का अध्ययन करना है। इस अध्ययन में सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया। नमूने के रूप में माध्यमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों का चयन किया गया। डिजिटल जागरूकता मापनी एवं विद्यालय वातावरण मापनी के माध्यम से आँकड़े संकलित किए गए। प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण सहसंबंध विधि द्वारा किया गया। अध्ययन के परिणामों से यह स्पष्ट हुआ कि डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण के मध्य धनात्मक एवं सार्थक संबंध पाया जाता है। अध्ययन के निष्कर्ष शैक्षिक नीति–निर्माताओं, विद्यालय प्रशासन तथा शिक्षकों के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे।

मुख्य शब्द : डिजिटल जागरूकता, विद्यालय वातावरण, माध्यमिक विद्यार्थी, सूचना प्रौद्योगिकी

प्रस्तावना

इक्कीसवीं सदी को सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी का युग कहा जाता है, जिसमें डिजिटल तकनीकों ने मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। शिक्षा का क्षेत्र भी इस परिवर्तन से अछूता नहीं रहा है। परंपरागत शिक्षक–केंद्रित शिक्षा प्रणाली अब धीरे–धीरे शिक्षार्थी–केंद्रित, तकनीक–समर्थित तथा संवादात्मक अधिगम की ओर अग्रसर हो रही है। कंप्यूटर, इंटरनेट, स्मार्टफोन, टैबलेट, डिजिटल शैक्षिक प्लेटफॉर्म, ई–लर्निंग सामग्री तथा ऑनलाइन मूल्यांकन जैसे नवाचारों ने शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया को अधिक सुलभ, लचीला एवं प्रभावी बना दिया है। डिजिटल युग में विद्यार्थियों के लिए केवल विषय–वस्तु का ज्ञान पर्याप्त नहीं है, बल्कि उनके लिए डिजिटल जागरूकता का विकास अत्यंत आवश्यक हो गया है। डिजिटल जागरूकता का तात्पर्य विद्यार्थियों की उस क्षमता से है, जिसके माध्यम से वे डिजिटल उपकरणों का विवेकपूर्ण उपयोग कर सकें, ऑनलाइन सूचनाओं की पहचान एवं मूल्यांकन कर सकें, डिजिटल संसाधनों का शैक्षिक उद्देश्यों हेतु प्रयोग कर सकें तथा साइबर सुरक्षा एवं डिजिटल नैतिकता के प्रति सचेत रह सकें। आज का विद्यार्थी सूचना का केवल उपभोक्ता नहीं, बल्कि उसका विश्लेषक एवं सृजनकर्ता भी है, जिसके लिए डिजिटल जागरूकता एक अनिवार्य जीवन–कौशल बन चुकी है।

माध्यमिक स्तर का शैक्षिक चरण विद्यार्थियों के संज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं सामाजिक विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। इसी अवस्था में विद्यार्थियों में तार्किक चिंतन, आत्म–निर्भरता, निर्णय–क्षमता तथा भविष्य संबंधी आकांक्षाओं का विकास होता है। यह वह समय है जब विद्यार्थी उच्च शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण एवं करियर निर्माण की दिशा में अग्रसर होते हैं। अतः इस स्तर पर डिजिटल जागरूकता का विकास न केवल उनकी शैक्षिक उपलब्धि को प्रभावित करता है, बल्कि उन्हें डिजिटल समाज में सक्रिय एवं उत्तरदायी नागरिक बनने में भी सहायता करता है। विद्यालय वातावरण विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक है। विद्यालय वातावरण में विद्यालय का भौतिक ढांचा, शैक्षिक संसाधन, शिक्षक–विद्यार्थी संबंध, सहपाठी सहयोग, अनुशासन, प्रशासनिक व्यवस्था, मूल्यांकन प्रणाली तथा विद्यालय की शैक्षिक संस्कृति सम्मिलित होती है। एक सकारात्मक, सहयोगात्मक एवं प्रोत्साहनकारी विद्यालय वातावरण विद्यार्थियों में सीखने की रुचि, आत्मविश्वास एवं नवाचार की भावना को प्रोत्साहित करता है। इसके विपरीत, प्रतिकूल विद्यालय वातावरण विद्यार्थियों की सीखने की प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न कर सकता है।

* एसोसिएट प्रोफेसर, श्री गणेश राय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, डोभी, जौनपुर, उ0 प्र0

डिजिटल शिक्षा के प्रभावी क्रियान्वयन में विद्यालय वातावरण की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। यदि विद्यालय में पर्याप्त डिजिटल संसाधन, तकनीकी अवसंरचना, प्रशिक्षित शिक्षक एवं सहयोगात्मक वातावरण उपलब्ध हो, तो विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता का विकास सहज रूप से संभव होता है। इसके विपरीत, संसाधन–अभाव, नकारात्मक दृष्टिकोण एवं तकनीकी असहयोग विद्यार्थियों की डिजिटल दक्षताओं के विकास में अवरोध उत्पन्न कर सकते हैं। अतः यह स्पष्ट होता है कि डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण परस्पर एक–दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 ने विद्यालयी शिक्षा में डिजिटल प्रौद्योगिकी के समुचित उपयोग, डिजिटल साक्षरता एवं शिक्षकों के तकनीकी प्रशिक्षण पर विशेष बल दिया है। नीति में यह स्पष्ट किया गया है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए विद्यालयों में अनुकूल वातावरण एवं डिजिटल संसाधनों की उपलब्धता आवश्यक है। इसी प्रकार, UNESCO एवं NCERT जैसी संस्थाओं ने भी विद्यालयों में ICT–आधारित शिक्षण एवं सकारात्मक विद्यालय वातावरण को शिक्षा की गुणवत्ता सुधार का महत्वपूर्ण आधार माना है।

सम्बंधित साहित्य का सर्वेक्षण

लिऊ (2025) द्वारा किए गए नवीन अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया कि विद्यालय वातावरण डिजिटल तैयारी और डिजिटल एकीकरण के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाता है। अध्ययन के निष्कर्षों से यह प्रमाणित हुआ कि सकारात्मक विद्यालय वातावरण विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता को व्यवहारिक रूप में परिवर्तित करने में सहायक होता है।

UNESCO (2023) की रिपोर्ट में डिजिटल शिक्षा को प्रभावी बनाने हेतु विद्यालय वातावरण की भूमिका पर विशेष बल दिया गया है। रिपोर्ट के अनुसार, डिजिटल जागरूकता के विकास के लिए विद्यालयों में सकारात्मक डिजिटल संस्कृति, साइबर सुरक्षा जागरूकता तथा नैतिक मूल्यों का समावेश आवश्यक है।

OECD (2022) PISA आधारित अध्ययन के PISA–आधारित विश्लेषण में यह पाया गया कि जिन विद्यालयों का वातावरण सुरक्षित, अनुशासित एवं तकनीक–समर्थित होता है, वहाँ विद्यार्थियों की डिजिटल साक्षरता एवं समस्या–समाधान क्षमता उच्च स्तर की होती है। रिपोर्ट में विद्यालय वातावरण को डिजिटल दक्षताओं के विकास का महत्वपूर्ण संदर्भात्मक कारक माना गया है।

राव एवं सिंह (2022) के अध्ययन में विद्यालय वातावरण और तकनीकी अधिगम के मध्य उच्च सकारात्मक सहसंबंध पाया गया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि सकारात्मक विद्यालय वातावरण विद्यार्थियों में डिजिटल उपकरणों के रचनात्मक एवं शैक्षिक उपयोग को बढ़ावा देता है, जिससे उनकी डिजिटल जागरूकता सुदृढ़ होती है।

मिश्र एवं तिवारी (2021) ने ग्रामीण एवं शहरी माध्यमिक विद्यालयों के तुलनात्मक अध्ययन में यह पाया कि जिन विद्यालयों का वातावरण तकनीक अनुकूल एवं शैक्षिक रूप से प्रोत्साहनकारी था, वहाँ विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता का स्तर अधिक पाया गया। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि विद्यालय प्रशासन एवं शिक्षक–समर्थन डिजिटल जागरूकता के विकास में निर्णायक भूमिका निभाते हैं।

NCERT (2019) राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद की रिपोर्ट में यह उल्लेख किया गया है कि माध्यमिक स्तर पर ICT–आधारित शिक्षण से विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता, सूचना–प्रसंस्करण क्षमता एवं आत्मनिर्भरता में वृद्धि होती है। रिपोर्ट में यह भी स्पष्ट किया गया कि जिन विद्यालयों का शैक्षिक वातावरण सहयोगात्मक एवं संसाधन–सम्पन्न होता है, वहाँ डिजिटल शिक्षा के सकारात्मक परिणाम अधिक प्रभावी रूप में दिखाई देते हैं।

बंसल एवं मिश्रा (2018) द्वारा किए गए अध्ययन में माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की डिजिटल साक्षरता का विश्लेषण किया गया। उन्होंने पाया कि विद्यालय में उपलब्ध डिजिटल संसाधन, शिक्षकों का सहयोग एवं तकनीक के प्रति सकारात्मक वातावरण विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता को उल्लेखनीय रूप से प्रभावित करते हैं। अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला कि विद्यालय वातावरण डिजिटल कौशल विकास का एक प्रमुख निर्धारक है।

एरत्मेर, ओत्तेंबरे एवं अन्य (2012) ने अपने अध्ययन में यह प्रतिपादित किया कि विद्यालय में तकनीक का प्रभावी उपयोग तभी संभव है जब विद्यालय वातावरण नवाचार–समर्थक, सहयोगात्मक एवं शिक्षक–प्रेरक हो। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि सकारात्मक विद्यालय वातावरण शिक्षकों की डिजिटल अभिवृत्तियों को सुदृढ़ करता है, जिसका अप्रत्यक्ष प्रभाव विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता पर पड़ता है।

वारसचौएर (2004) ने "डिजिटल डिवाइड" की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट किया कि डिजिटल असमानता केवल तकनीकी संसाधनों की उपलब्धता से संबंधित नहीं है, बल्कि इसमें मानव दक्षता, विद्यालय वातावरण एवं संस्थागत समर्थन की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उनके अनुसार अनुकूल विद्यालय वातावरण डिजिटल साक्षरता एवं डिजिटल जागरूकता के विकास के लिए आवश्यक शर्त है।

हल्पिन एवं क्रॉफ्ट (2003) ने विद्यालय वातावरण की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा कि विद्यालय वातावरण विद्यालय की वह आंतरिक विशेषता है, जो शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के व्यवहार को प्रभावित करती है। उनके अनुसार सकारात्मक विद्यालय वातावरण विद्यार्थियों में सीखने की रुचि, सहभागिता एवं नवाचार को प्रोत्साहित करता है। यद्यपि उनका अध्ययन डिजिटल संदर्भ से पूर्व का है, तथापि उनके सिद्धांत आधुनिक डिजिटल शिक्षण वातावरण की वैचारिक आधारशिला प्रदान करते हैं।

समस्या कथन

"माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण में संबंध का अध्ययन"

शोध में प्रयुक्त चरों की परिभाषा

प्रस्तुत शोध में प्रयुक्त चरों की परिभाषा निम्न प्रकार से है–

- **माध्यमिक स्तर :** माध्यमिक स्तर वह शैक्षिक अवस्था है, जिसमें विद्यार्थी सामान्यतः कक्षा 9 एवं 10 में अध्ययनरत होते हैं तथा उनकी आयु लगभग 14 से 16 वर्ष के मध्य होती है। इस स्तर पर विद्यार्थियों में तार्किक चिंतन, निर्णय–क्षमता, आत्मनिर्भरता एवं भविष्य उन्मुख दृष्टिकोण का विकास होता है।
- **डिजिटल जागरूकता :** डिजिटल जागरूकता से तात्पर्य डिजिटल उपकरणों एवं सूचनादृसंचार प्रौद्योगिकी से संबंधित उस ज्ञान, समझ, कौशल एवं दृष्टिकोण से है, जिसके माध्यम से व्यक्ति डिजिटल संसाधनों का उचित, सुरक्षित, नैतिक एवं शैक्षिक उपयोग कर सकता है।
- **विद्यालय वातावरण :** विद्यालय वातावरण से आशय विद्यालय में विद्यमान शैक्षिक, सामाजिक, भावनात्मक एवं भौतिक परिस्थितियों के समग्र स्वरूप से है, जो विद्यालय में शिक्षणदृअधिगम प्रक्रिया को प्रभावित करता है। इसमें शिक्षक–विद्यार्थी संबंध, सहपाठी सहयोग, अनुशासन, सुरक्षा, शैक्षिक एवं डिजिटल संसाधनों की उपलब्धता, प्रशासनिक व्यवस्था तथा विद्यालय की शैक्षिक संस्कृति सम्मिलित होती है।

अध्ययन के उद्देश्य

1. डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण के मध्य संबंध का अध्ययन करना।

शोध परिकल्पना

H_0: माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण के मध्य कोई सार्थक संबंध नहीं है।

शोध विधि

प्रस्तुत अध्ययन में शोध की प्रकृति वर्णनात्मक शोध के अंतर्गत आने वाले सहसंबंधात्मक की है जिस कारण इस शोध में शोध विधि का प्रयोग किया गया है।

जनसंख्या

इस शोध कार्य को सफलतापूर्वक पूर्ण करने के लिए शोधकर्ता द्वारा वाराणसी जनपद के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों को जनसंख्या के रूप में चुना गया है।

प्रतिदर्श एवं प्रतिदर्शन विधि

शोधकर्ता द्वारा वाराणसी जनपद में स्थित माध्यमिक विद्यालय के कक्षा 11 वीं के 100 विद्यार्थियों को उद्देश्यपूर्ण प्रतिदर्शन विधि का प्रयोग करके प्रतिदर्श के रूप में चुना गया।

शोध के उपकरण

प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधकर्ता द्वारा माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता का मापन करने के लिए स्वनिर्मित मापनी एवं विद्यालयी वातावरण का मापन करने के लिए डॉ. बी. एन. पाण्डेय द्वारा निर्मित विद्यालय वातावरण मापनी का प्रयोग किया गया है।

सांख्यिकी विधियाँ

प्राप्त आँकड़ों के विश्लेषण हेतु शोधार्थी ने मध्य, मानक विचलन एवं सहसंबंध गुणांक जैसे सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग किया।

आंकड़ों का विश्लेषण

शोध से प्राप्त आंकड़ों के विश्लेषण के पश्चात् परिकल्पना का परिक्षण निम्न प्रकार से किया गया –

उद्देश्य. डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण के मध्य संबंध का अध्ययन करना।

H_0: माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण के मध्य कोई सार्थक संबंध नहीं है।

तालिका 1 : माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण का सहसंबंध मान

चर	सहसंबंध गुणांक (r)	सार्थकता (p)	निष्कर्ष
माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण	0.787	0.000	सर्थाकता के 0.05 और 0.01 स्तर पर सार्थक है।

तालिका यह प्रदर्शित करता हैं कि माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण के बीच सहसंबंध गुणांक ($r=0.787$, $p<.05$) हैं, 0.05 स्तर के साथ–साथ 0.01 पर भी सहसंबंध पाया गया हैं। अतः निष्कर्ष रुप में हम यह कह सकते हैं कि माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण के बीच अति उच्च सहसंबंध है। इस प्रकार शोधकर्ता की परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है तथा प्राप्त परिणाम को स्वीकृत किया जाता है।

निष्कर्ष

आंकड़ों के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्ष के अनुसार डिजिटल जागरूकता एवं विद्यालय वातावरण के मध्य सकारात्मक एवं सार्थक सहसंबंध पाया गया।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Garrett, H. E. (2008). *Statistics in Psychology and Education*. New Delhi: Paragon International Publishers.
- Gilster, P. (1997). *Digital Literacy*. New York: Wiley Computer Publishing.
- Hoy, W. K., & Miskel, C. G. (2008). *Educational Administration: Theory, Research and Practice*. New York: McGraw-Hill.
- Mishra, S., & Koehler, M. J. (2006). Technological Pedagogical Content Knowledge: A Framework for Teacher Knowledge. *Teachers College Record*, 108(6), 1017–1054.
- Warschauer, M. (2004). *Technology and Social Inclusion: Rethinking the Digital Divide*. Cambridge, MA: MIT Press.
- Bansal, S., & Misra, R. (2018). Digital literacy among secondary school students in India. *International Journal of Research in Social Sciences*, 8(5), 120–128.
- Ertmer, P. A., Ottenbreit-Leftwich, A. T., Sadik, O., Sendurur, E., & Sendurur, P. (2012). Teacher beliefs and technology integration practices. *Computers & Education*, 59(2), 423–435.
- Mishra, R., & Tiwari, P. (2021). A comparative study of digital awareness among rural and urban secondary school students. *Indian Journal of Educational Research*, 45(2), 67–78.
- Rao, S., & Singh, K. (2022). School climate and digital learning readiness of secondary students. *Journal of Educational Studies*, 14(1), 33–45.
- Liu, J. (2025). The mediating role of school climate in digital preparedness and digital integration. *Educational Technology Research and Development*, 73(1), 89–105.
- NCERT. (2019). *ICT in School Education*. New Delhi: National Council of Educational Research and Training.
- UNESCO. (2018). *Digital Literacy in Education*. Paris: UNESCO Publishing.
- UNESCO. (2023). *Technology in Education: A Tool for Quality and Equity*. Paris: UNESCO.
- OECD. (2022). *PISA Results: Students, Computers and Learning*. Paris: OECD Publishing.
- भारत सरकार. (2020). राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020. नई दिल्लीः शिक्षा मंत्रालय.
- पाण्डेय, आर.(2023). विद्यालयी शिक्षा में डिजिटल साक्षरता की भूमिका. भारतीय शैक्षिक शोध पत्रिका,12(2), 45–52.
- शर्मा, एस. (2021). विद्यालय वातावरण और विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि. नई दिल्लीः एपीएच पब्लिशिंग.
- सिंह, ए. (2020). भारत में माध्यमिक शिक्षा में ICT का प्रयोग. शैक्षिक विमर्श, 8(1), 21–30.

सम्राट अशोक के स्तम्भ अभिलेखों में प्रशासनिक उत्तरदायित्व एवं लोक नैतिकता

मोहम्मद खुर्शीद*
डॉ. मो. वाकिफ**

शोध सारांशः–

*मौर्य सम्राट 'अशोक' के स्तम्भलेख प्राचीन भारतीय इतिहास में प्रशासनिक उत्तरदायित्व और लोक नैतिकता के सशक्त स्त्रोत हैं। अशोक द्वारा प्रज्ञापित इन स्तम्भ लेखों में न केवल उसकी शासकीय नीतियों का उल्लेख मिलता है वरन् नैतिक प्रतिबद्धताओं, प्रजा कल्याण की भावना तथा प्रशासनिक उत्तरदायित्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति भी होती है। कलिंग युद्ध में हुये नरसंहार से विक्षोभित एक राजा (अशोक) द्वारा प्रतिपादित **'धम्म'** ने शासन–प्रशासन को नैतिक आधार प्रदान किया, जिससे तत्कालीन प्रशासनिक संरचना में उत्तरदायित्व, मानवीयता और सामाजिक समरसता का समावेश हुआ। प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से अशोक के स्तम्भ लेखों के आलोक में प्रशासनिक उत्तरदायित्व तथा लोक नैतिकता के विविध आयामों को विश्लेषित किया गया है। विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अशोक ने नैतिक नेतृत्व की एक अभिनव अवधारणा प्रस्तुत की जिसमें राज्य–कर्मचारियों को नैतिक मानकों के पालन एवं जनकल्याण को सुनिश्चित करने का दायित्व सौंपा गया। यह अध्ययन एक न्यायपूर्ण समाज के सृजन में अशोक के स्तम्भ लेखों की भूमिका तथा आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में नैतिकता की सतत् प्रासंगिकता को रेखांकित करता है।*

शब्द कुंजीः– स्तम्भ अभिलेख, धम्म, प्रशासनिक उत्तरदायित्व, लोक नैतिकता, अहिंसा, सामाजिक कल्याण, धम्म महामात्र

प्रस्तावनाः–

भारतीय इतिहास में अशोक का नाम एक ऐसे शासक के रूप में स्मृत किया जाता है जिसने राजनीतिक शक्ति को नैतिक आदर्शों से जोड़ा। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा संस्थापित मौर्य साम्राज्य प्राचीन भारत का प्रथम विशाल साम्राज्य था। इस साम्राज्य की प्रशासनिक संरचना अत्यधिक संगठित एवं केन्द्रीकृत थी। अशोक ने इस शक्ति आधारित प्रशासनिक संगठन को नैतिक आधार प्रदान किया। कलिंग युद्ध (लगभग 261 ईसापूर्व) के उपरान्त अशोक के जीवन में आए परिवर्तन ने उसके जीवन दर्शन को पूरी तरह परिवर्तित कर दिया। युद्ध की विभीषिका से जन्में पश्चाताप ने उसको धम्म विजय की ओर प्रेरित किया। यही धम्म उसके स्तम्भ लेखों का मूलाधार है। प्रस्तुत शोध पत्र इस विचार का विश्लेषण करता है कि अशोक के स्तम्भ लेख प्रशासनिक उत्तरदायित्व और लोक नैतिकता की अवधारणा को किस प्रकार स्थापित करते हैं।

शोध विस्तारः–

अशोक ने साम्राज्यिक घोषणाओं को अभिलिखित करवाने की एक नई राजसी प्रथा का शुभारंभ किया था। पहले पहल सन् 1837 ईस्वी में जेम्स प्रिंसेप को अशोक के ब्राह्मी शिलालेखों को पढ़ने में सफलता मिली थी, हालांकि उस समय यह ज्ञात नहीं हो पाया कि ये किस राजा के अभिलेख हैं। इस रहस्य को सुलझाने का श्रेय एक ब्रिटिश सरकारी कर्मचारी और सीलोन के विद्वान 'जार्ज टर्नर' को जाता है जिन्होंने अशोक के अभिलेखों में प्रयुक्त 'देवनांपिय और पियदसी विशेषणों को 'दीपवंश' और 'महावंश' में मौर्य सम्राट अशोक के लिये प्रयुक्त बताया।[1] विद्वानों ने अशोक के अभिलेखों को वैसे तो कई वर्गों में बांटा है किंतु दो प्रमुख वर्ग हैं – (1) 14 वृहत शिलालेख एवं (2) 6 (एक जगह 7) स्तम्भ अभिलेख।[2] अशोक के 6 (एक जगह 7) स्तम्भ अभिलेख की प्राप्ति निम्न स्थानों से हुई है–

(1) कंधार (कंधार जिला, दक्षिण अफगानिस्तान)

(2) दिल्ली, दिल्ली–टोपरा स्तम्भ लेख (यह मूलतः टोपरा, अंबाला जिला, हरियाणा में स्थित था)

---

* शोध छात्र, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय), जमुनीपुर कोटवा, प्रयागराज (उत्तर प्रदेश)

** शोध निर्देशक, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय), जमुनीपुर कोटवा, प्रयागराज (उत्तर प्रदेश)

(3) दिल्ली, दिल्ली–मेरठ स्तम्भ (मूलतः मेरठ जिला, उत्तर प्रदेश में स्थित था)
(4) इलाहाबाद (प्रयागराज), इलाहाबाद–कोसम स्तम्भ (मूलतः कोसम अर्थात् कौशांबी जिला, उत्तर प्रदेश में स्थित था)
(5) लौरिया–अरराज (चंपराण जिला, बिहार)
(6) लौरिया–नंदनगढ़ (चंपारण जिला, बिहार)
(7) रामपुरवा (चंपारण जिला, बिहार)[3]

उपरोक्त स्तम्भ लेखों के अतिरिक्त कुछ लघु स्तम्भ लेखों की गणना भी की जाती है यथा सारनाथ (उत्तर प्रदेश), सांची (मध्य प्रदेश) अमरावती (आन्ध्र प्रदेश), रूम्मनदेई , निगलई सागर (भैर वा जिला, नेपाल) आदि।[4] अशोक के अभिलेख मौर्यकालीन प्रशासन के अध्ययन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्त्रोत की तरह प्रयुक्त किये जाते हैं। ये राजकीय उत्तरदायित्व, धम्म नीति, न्याय, लोकहित, अधिकारियों की निगरानी तथा नैतिकपूर्ण शासन की रूप रेखा स्पष्ट करते हैं।

अशोक के स्तम्भ अभिलेखों का केन्द्र बिन्दु **'धम्म'** है, जिसे किसी संप्रदाय विशेष की धार्मिक शिक्षा के रूप में नहीं बल्कि एक सार्वभौमिक नैतिक अंहिसा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। स्तम्भ अभिलेख संख्या 6 के अनुसार धम्म अभिलेखों का व्यवहार जिसे अशोक **'धम्म–लिपि'** कहता है, उसके राज्याभिषेक के 12 वर्ष बीत जाने के बाद शुरू हुआ।[5] दूसरे स्तम्भ लेख में धम्म को न्यूनतम पाप, करूणा, दानशीलता, सत्यनिष्ठा और पवित्रता जैसे गुणों के रूप में परिभाषित किया गया है। अशोक के अनुसार उसने यह धर्म लेख इसलिए लिखवाया कि लोग इसका पालन करें और यह चिरकाल तक रहे।[6] अशोक के राज्याभिषेक के 26 वर्ष पश्चात निर्गत किए गए स्तम्भ लेख संख्या पांच में पशुवध के निषेध तथा अंहिसा से जुड़े अन्य तथ्यों को व्यापक प्रचलन दिखलाई पड़ता है। पांचवे स्तम्भ लेख के अनुसार अशोक ने अग्रलिखित पशुओं के वध को प्रतिबंधित कर दिया–तोता, मैना, अरूण, लाल हंस, नन्दिमुख, भूरे बंदर, चमगादड़, रानी चींटी, छोटे कछुए, बिना कांटों वाली मछली, वेदवायक, गंगा के पुपुतक, स्काट–मछली, स्थल कच्छप, साही मछली, गिलहरी, श्रृमर, स्वच्छन्द घूमते सांप, इगुआना, गैंडा, सफेद पण्डुक, घरेलू कबूतर तथा वैसे चौपाए जो या तो अनुपयोगी हैं या खाने योग्य नहीं हैं।[7] इतिहासकार उपिंदर सिंह कहती हैं– 'अहिंसा के जिस व्यापक परिप्रेक्ष्य की इस स्तम्भ अभिलेख में चर्चा या कल्पना की गई है, वह मौर्य साम्राज्य के विस्तृत क्षेत्र में पालन किया जाता होगा इसमें घोर संदेह है।'[8]

प्रथम स्तम्भ अभिलेख में अशोक ने प्रजा की शारीरिक और नैतिक सुरक्षा का आश्वासन दिया। तीसरे स्तम्भ अभिलेख में उसने कठोरता, क्रूरता, क्रोध और अहंकार जैसे दोषों के त्याग का आह्वान किया तथा समाज में कोमलता एवं आत्म संयम की भावना विकसित करने पर बल दिया।[9] अशोक के इन निदेर्शों ने सार्वजनिक नैतिकता को सुदृढ़ किया और आपसी सम्मान, बड़ों का आदर, ब्राह्मणों एवं श्रमणों के प्रति उदारता तथा दासों और सेवकों के प्रति करूणा को प्रोत्साहित किया।

अशोक के स्तम्भ अभिलेखों से राज्य के अधिकारियों के स्पष्ट दायित्व का उल्लेख मिलता है, जो उसके उत्तरदायी शासन की अभिनव अवधारणा का द्योतक है। चौथे स्तम्भ अभिलेख में राजस्व एवं न्यायिक अधिकारी के रूप में 'राजूकों' की नियुक्ति का उल्लेख है। स्तम्भ लेख में अशोक कहता है– ' मैंने राजूकों को लाखों प्राणियों के ऊपर रखा है और कानून एवं न्याय प्रशासन उनके अधीन कर दिया है'[10] आगे वह कहता है कि 'मैंने जानपद जनों के हित और सुख के लिये राजूक बनाये हैं।[11] राजूक को प्राणदण्ड एवं प्राणदान दोनों का अधिकार प्राप्त था। अशोक ने 'धर्म महामात्र' नामक विशेष अधिकारियों की नियुक्ति धम्म प्रचार, नैतिक कल्याण की देखरेख तथा शासन में नैतिक आचरण सुनिश्चित करने के उद्देश्य से की थी।[12] इन दोनों अधिकारियों को साम्राज्य का भ्रमण कर धम्म का उपदेश देने, विभिन्न सम्प्रदायों के विवादों का समाधान करने और लोक कल्याणकारी योजनाओं को प्रोत्साहित करने का निर्देश दिया गया था।[13] यही नहीं इनके द्वारा प्रशासनिक उत्तरदायित्व को नैतिक जवाबदेही से जोड़ा गया था। पांचवे स्तम्भ लेख में पशु–पक्षियों की हत्या पर लगाया गया प्रतिबंध राज्य की करूणामूलक नीति को दर्शाता है। सातवें स्तम्भ लेख में अशोक कहता है कि– राजमार्गों पर मैंने बरगद के वृक्ष लगवाये हैं ताकि मनुष्यों और पशुओं को छाया मिले, आम के बगीचे लगवाए हैं, आधे–आधे कोस पर कुएं खुदवाये हैं, धर्मशालाएं बनवाई हैं, यहां–वहां अनेको प्याऊ बनवाये हैं ताकि मनुष्य एवं पशुओं को सुख मिल सके।[14] अशोक के ये कार्य प्रशासन को केवल राजनीतिक सत्ता तक सीमित न रखकर एक मानवीय उत्तरदायित्व के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

अशोक ने कारागारों में बंदियों के प्रति मानवीय व्यवहार का निर्देश दिया था। चतुर्थ स्तम्भ लेख में अशोक कहता है– 'व्यवहार समता और दंड समता वांक्षित है अतः अब से मेरा आदेश है कि जो लोग कैद में हैं, जिनका विचार हो गया है और इन्हें मृत्युदण्ड दिया जा चुका है उनके रिश्तेदारों को राजूकों के सम्मुख पुनर्विचार का अनुरोध करने के लिये तीन दिन की मोहलत दी है।'[15] पांचवे स्तम्भ लेख के अन्त में उल्लिखित है कि अशोक ने राज्याभिषेक के 26 वर्षों के अन्तर्गत 25 बार कारागारों से बंदियों की सालाना मुक्ति की थी।[16]

अशोक की धार्मिक सहिष्णुता सार्वदेशिक थी और उसे इस बात का अच्छी तरह ज्ञान था कि उसकी नीति का मानव प्रकृति में कितना पालन हो सकता है और कितना नहीं। उसकी नीति की सफलता मानवीय सीमाओं के भीतर ही संभव थी। अशोक ने विभिन्न सम्प्रदायों के प्रति सम्मान और पारस्परिक समझ की भावना विकसित करने का आग्रह किया। सातवें स्तम्भ लेख में धर्म महामात्रों की विभिन्न सम्प्रदायों में नियुक्ति का उल्लेख करते हुए अशोक ने लिखा है कि– 'मैंने आदेश किया है कि ये विभिन्न सम्प्रदायों में नियुक्त किये जायें।[17] इसी स्तम्भ लेख में वह कहता है– 'मैंने दो मार्गों से प्रजा की यह धर्म वृद्धि की हैः धम्म विजय (नियमन) से और निझती (विचार परिवर्तन) से। किन्तु 'निझती' से धर्म वृद्धि कहीं अधिक है।'[18] ऐसा नहीं था कि ये नियम केवल लोक जन के लिये थे। यह अशोक का वैयक्तिक उदाहरण भी था। उसने आमोद–प्रमोद की यात्राएं (बिहार यात्रा, मृगया) छोड़ धर्म यात्राएं प्रारंभ कीं। यही नहीं उसने अपनी रानियों और संतानों को भी आदेश दिया कि वे दान विसर्ग का कार्य देखेगें ताकि धर्म के कार्यों की वृद्धि हो।[19]

निष्कर्षः–

इस प्रकार अशोक के स्तम्भ लेख प्राचीन भारत में नैतिक शासन का अनुपम उदाहरण है। अशोक ने **धम्म** को राज्य का आधार बनाकर प्रशासनिक उत्तरदायित्व को लोक नैतिकता से जोड़ा। राजूक एवं धर्म महामात्र सरीखे उच्च अधिकारियों को मात्र कार्यकारी नहीं बल्कि नैतिकता का संरक्षक और कल्याणकर्ता बनाया। धम्म के संस्थाानीकरण के माध्यम से अशोक ने शासन को केवल राजनीतिक नियंत्रण का साधन न मानकर करूणा, न्याय और लोककल्याण की जीवंत अभिव्यक्ति बना दिया। प्रजा के कल्याण, अहिंसा, सहिष्णुता और सामाजिक सहभाव पर आधारित यह प्रारूप विश्व इतिहास में अद्धितीय है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो अशोक के ये स्तम्भ लेख लोकतंत्र, मानवाधिकार, पर्यावरण संरक्षण और नैतिकतापूर्ण शासन के लिये प्रेरणा स्त्रोत हैं। उपिंदर सिंह के अनुसार 'अशोक का शासन बौद्ध धर्म आधारित राज्य नहीं बल्कि धम्म और नैतिकता पर आधारित राज्य था।'[20] स्पष्टतः अशोक की यह विरासत आज भी नैतिक शासन की अवधारणा की प्रेरक है और यह सूचित करती है कि यदि प्रशासन नैतिक मूल्यों पर आधारित हो तो वह समाज के व्यापक हित में कार्य कर सकता है। अशोक के स्तम्भ लेखों की नैतिकता आधारित विरासत आज भी जीवंत है और भारतीय संविधान की प्रस्तावना में अशोक चक्र इसका प्रतीक है।[21]

सन्दर्भ सूचीः–

1. सिंह, उपिंदर, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहासः पाषाण काल से 12वीं शताब्दी तक, पीयर्सन इंडिया एजुकेशन सर्विसेज प्रा॰लि॰ नोएड़ा, 2024, पृ॰सं॰ 377
2. तदैव, पृ॰सं॰ 378
3. गुप्त, परमेश्वरीलाल, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, खण्ड 1, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1996, पृ॰सं॰ 7–8
4. सोलोमन, रिचर्ड, इंडियन एपिग्राफीः ए गाइड टू दी स्टडी ऑफ इन्सक्रिप्सन्स इन संस्कृत, प्राकृत एण्ड दी अदर इंडो आर्यन लैंग्वेजेस, मुंशीराम मनोहर लाल, नई दिल्ली, 1998, पृ॰सं॰ 136–40
5. मुखर्जी, राधाकुमुद, अशोक, मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 2015, पृ॰सं॰ 155
6. तदैव, पृ॰सं॰ 147
7. हल्ट्जच, ई, कार्पस इनक्रिप्सनम इंडिकारम खण्ड 1 इनक्रिण्सन्स ऑफ अशोक, इंडोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी, 1969 पृ॰सं॰ 127–28
8. सिंह, उपिंदर, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहासः पाषाणकाल से 12वीं शताब्दी तक, पीयर्सन इंडिया एजुकेशन सर्विसेज प्रा॰ लि॰, नोएड़ा, 2024, पृ॰सं॰ 402
9. मुखर्जी, राधाकुमुद, अशोक, मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 2015, पृ॰सं॰ 147
10. तदैव, पृ॰सं॰ 148
11. शस्त्री, के॰ ए॰ नीलकण्ठ, नंद–मौर्य युगीन भारत, मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 2000, पृ॰सं॰ 254

12. गुप्त, परमेश्वरीलाल, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, खण्ड 1, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1996, पृ॰सं॰ 68
13. मुखर्जी, राधाकुमुद, अशोक, मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 2015, पृ॰सं॰ 156–157
14. तदैव, पृ॰सं॰ 158
15. तदैव, पृ॰सं॰ 150
16. शस्त्री, के॰ ए॰ नीलकण्ठ, नंद–मौर्य युगीन भारत, मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 2000, पृ॰सं॰ 271
17. मुखर्जी, राधाकुमुद, अशोक, मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 2015, पृ॰सं॰ 159
18. शस्त्री, के॰ ए॰ नीलकण्ठ, नंद–मौर्य युगीन भारत, मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 2000, पृ॰सं॰ 273
19. मुखर्जी, राधाकुमुद, अशोक, मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 2015, पृ॰सं॰ 160
20. सिंह, उपिंदर, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहासः पाषाणकाल से 12वीं शताब्दी तक, पीयर्सन इंडिया एजुकेशन सर्विसेज प्रा॰ लि॰, नोएड़ा, 2024, पृ॰सं॰ 407
21. लहिरी, नयनजोत, अशोका इन एंशिएंट इंडिया, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 2015, पृ॰सं॰ 14

प्राचीन भारतीय इतिहास में हिन्दू धार्मिक दर्शन के विचारधारा

डॉ. जितेन्द्र कुमार कंचन*

सार :

प्रस्तुत अध्ययन 'प्राचीन भारतीय इतिहास में हिन्दू धार्मिक दर्शन के विचारधारा' का अध्ययन है। प्राचीन भारतीय इतिहास में हिन्दू धार्मिक दर्शन केवल आस्था अथवा कर्मकांड तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह जीवन, समाज, प्रकृति और ब्रह्माण्ड के समग्र स्वरूप को समझने का एक गहन दार्शनिक प्रयास रहा है। वैदिक युग से लेकर उपनिषदिक, महाकाव्यीय एवं पुराणिक काल तक हिन्दू दर्शन निरंतर विकसित होता रहा। इस लेख में हिन्दू धार्मिक दर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्रमुख दार्शनिक अवधारणाओं – ऋत, धर्म, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, ब्रह्मदृआत्मा, पुरुषार्थ, भक्ति और ज्ञान का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार हिन्दू दर्शन ने भारतीय सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन, नैतिक मूल्यों और दार्शनिक चिंतन को गहराई से प्रभावित किया है।

मुख्य शब्द : हिन्दू दर्शन, वैदिक परंपरा, उपनिषद, कर्म सिद्धांत, मोक्ष, ब्रह्मदृआत्मा, धर्म आदि ।

परिचय : प्राचीन भारतीय इतिहास केवल राजवंशों, युद्धों और प्रशासनिक संरचनाओं का क्रमबद्ध विवरण मात्र नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी जीवंत सभ्यतागत प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें धार्मिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक चिंतन ने केंद्रीय भूमिका निभाई। भारतीय उपमहाद्वीप की विशिष्ट पहचान उसके उसी दार्शनिक दृष्टिकोण में निहित है, जिसने जीवन को केवल भौतिक अस्तित्व तक सीमित न मानकर उसे नैतिक कर्तव्य, आध्यात्मिक उन्नयन और ब्रह्माण्डीय चेतना से जोड़ा। इसी व्यापक चिंतन परंपरा को हम हिन्दू धार्मिक दर्शन के रूप में पहचानते हैं।

हिन्दू धार्मिक दर्शन किसी एक ऐतिहासिक काल, एक ग्रंथ या एक संस्थागत धर्म तक सीमित नहीं है। यह एक दीर्घकालीन, बहुधारात्मक और विकासशील परंपरा है, जिसकी जड़ें वैदिक संस्कृति में निहित हैं और जो उपनिषदिक काल, महाकाव्यीय युग तथा पुराणिक परंपरा के माध्यम से निरंतर विकसित होती रही। यह दर्शन आस्था और तर्क, अनुभूति और विवेक, कर्म और ज्ञान, तथा व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास करता है। इसीलिए इसे केवल धार्मिक मत न मानकर एक समग्र जीवन–दर्शन (Way of Life) के रूप में देखा जाता है।

प्राचीन भारत के दार्शनिक चिंतन की विशेषता यह रही है कि यहाँ धर्म को नैतिक और आध्यात्मिक अवधारणा के रूप में समझा गया, न कि केवल कर्मकांड या संप्रदायिक पहचान के रूप में। वैदिक 'ऋत' की संकल्पना से लेकर उपनिषदों के ब्रह्म/आत्मा सिद्धांत तक, हिन्दू दर्शन ने यह स्पष्ट किया कि मानव जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक सुखों की प्राप्ति नहीं, बल्कि आत्मबोध और मोक्ष की खोज है। इस प्रकार हिन्दू दर्शन जीवन के अस्तित्ववादी प्रश्नोंकृमैं कौन हूँ? यह जगत क्या है? जीवन का अंतिम लक्ष्य क्या है? के उत्तर खोजने का सतत प्रयास रहा है।

उपनिषदिक काल में हिन्दू दर्शन में एक आंतरिक क्रांति दिखाई देती है, जहाँ बाह्य यज्ञीय परंपराओं की अपेक्षा आत्मानुभूति और ज्ञान को महत्व दिया गया। यह परिवर्तन भारतीय दार्शनिक इतिहास में एक निर्णायक मोड़ सिद्ध हुआ। यहाँ से दर्शन तात्त्विक चिंतन, ध्यान और वैराग्य की दिशा में अग्रसर होता है। यही चिंतन आगे चलकर सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त जैसे दार्शनिक दर्शनों की आधारशिला बनता है।

महाकाव्यीय काल में हिन्दू धार्मिक दर्शन जीवन की व्यावहारिक समस्याओं से जुड़ता है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य दर्शन को नैतिक आदर्शों और सामाजिक कर्तव्यों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। भगवद्गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय हिन्दू दर्शन की उदार और समन्वयवादी प्रकृति को स्पष्ट करता है। यह दर्शन संघर्ष, कर्तव्य और आत्मसंघर्ष के बीच संतुलन स्थापित करता है।

* एम.ए., पी–एच0 डी0, प्राचीन भारतीय एवं एशियाई अध्ययन विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
E-mail : jkanchan542@gmail.com, Mob. No. 870 961 2090

पुराणिक युग में हिन्दू दर्शन का लोकतांत्रिक रूप सामने आता है। भक्ति परंपरा के माध्यम से दर्शन जनसाधारण तक पहुँचता है और ईश्वर के साथ व्यक्तिगत, भावनात्मक और नैतिक संबंध की स्थापना करता है। इसने दर्शन को केवल विद्वानों तक सीमित न रखकर समाज के प्रत्येक वर्ग से जोड़ा।

इतिहासकारों और दार्शनिकों के लिए हिन्दू धार्मिक दर्शन का अध्ययन इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसने भारतीय समाज की संरचना, नैतिक मूल्य, शिक्षा प्रणाली, राजनीतिक चिंतन और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को गहराई से प्रभावित किया। धर्म, कर्म और पुनर्जन्म की अवधारणाओं ने भारतीय मानस को विशिष्ट पहचान प्रदान की, जो आज भी सामाजिक व्यवहार और सांस्कृतिक चेतना में परिलक्षित होती है।

आस्तिक दर्शनों का विकास

प्राचीन भारत में षड्दर्शन (छः आस्तिक दर्शन) का विकास हुआ, जिन्होंने वेदों की प्रमाणिकता को स्वीकार किया।

1. **सांख्य दर्शन :** इसके प्रवर्तक कपिल माने जाते हैं। इसमें प्रकृति और पुरुष के द्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ।
2. **योग दर्शन :** पतंजलि द्वारा प्रतिपादित इस दर्शन में चित्तवृत्ति निरोध के माध्यम से आत्म–साक्षात्कार का मार्ग बताया गया।
3. **न्याय दर्शन :** गौतम द्वारा प्रतिपादित, यह तर्क और ज्ञानमीमांसा पर आधारित है।
4. **वैशेषिक दर्शन :** कणाद ने पदार्थ के परमाणुवादी सिद्धांत का प्रतिपादन किया।
5. **पूर्व मीमांसा :** जैमिनि द्वारा स्थापित, यह यज्ञ और कर्मकाण्ड की दार्शनिक व्याख्या करता है।
6. **उत्तर मीमांसा (वेदांत) :** बादरायण (ब्रह्मसूत्र के रचयिता) ने ब्रह्मदृआत्मा की एकता को व्यवस्थित रूप दिया।

इन दर्शनों ने हिन्दू धार्मिक दर्शन को तार्किक, आध्यात्मिक और नैतिक आधार प्रदान किया।

महाकाव्य और गीता का दार्शनिक योगदान : महाकाव्य काल में धर्म की अवधारणा और अधिक व्यावहारिक एवं सामाजिक रूप में विकसित हुई। रामायण और महाभारत में धर्म, कर्तव्य और आदर्श जीवन की व्याख्या की गई। विशेष रूप से भगवद्गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का समन्वय मिलता है। इसमें निष्काम कर्म, समत्व योग और लोकसंग्रह की अवधारणाएँ हिन्दू धार्मिक दर्शन को जीवनमूल्य प्रदान करती हैं।

पुराण और भक्ति आंदोलन : गुप्त काल और उसके बाद पुराणों की रचना हुई, जिनमें धार्मिक विचारों को लोकभाषा और कथाओं के माध्यम से जनसामान्य तक पहुँचाया गया। विष्णु पुराण, शिव पुराण आदि ग्रंथों ने ईश्वर को सगुण और साकार रूप में प्रस्तुत किया। भक्ति आंदोलन ने ईश्वर के प्रति प्रेम और समर्पण को प्रमुख स्थान दिया। यद्यपि यह आंदोलन मध्यकाल में विकसित हुआ, किंतु इसकी दार्शनिक जड़ें प्राचीन ग्रंथों में ही निहित थीं।

हिन्दू धार्मिक दर्शन की मुख्य अवधारणाएँ :

(क) धर्म : धर्म केवल पूजा–पद्धति नहीं, बल्कि सामाजिक कर्तव्य और नैतिक जीवन का सिद्धांत है।

(ख) कर्म और पुनर्जन्म : कर्म सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक क्रिया का फल अनिवार्य है। जन्मदृमरण का चक्र (संसार) कर्म के आधार पर संचालित होता है।

(ग) मोक्ष : मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य है– जन्म/मरण के चक्र से मुक्ति।

(घ) पुरुषार्थ चतुष्टय : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ मानव जीवन के संतुलित विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव : हिन्दू धार्मिक दर्शन ने भारतीय समाज की संरचना को गहराई से प्रभावित किया। वर्णाश्रम व्यवस्था, परिवार संस्था, आश्रम प्रणाली (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) तथा कला साहित्य पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। मंदिर स्थापत्य, मूर्तिकला, नृत्य और संगीत भी धार्मिक दर्शन से प्रेरित रहे।

इस शोध–लेख का उद्देश्य प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में हिन्दू धार्मिक दर्शन की विचारधारा का ऐतिहासिक, दार्शनिक और आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना है। लेख में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि हिन्दू दर्शन कैसे एक ओर आध्यात्मिक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है, तो दूसरी ओर सामाजिक उत्तरदायित्व और नैतिक आचरण को भी समान रूप से महत्व देता है। इस प्रकार यह अध्ययन न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से, बल्कि समकालीन वैश्विक संदर्भ में भी प्रासंगिक सिद्ध होता है।

साहित्य की समीक्षा

प्राचीन भारतीय इतिहास में हिन्दू धार्मिक दर्शन पर विद्वानों द्वारा किया गया अध्ययन अत्यंत व्यापक, बहुआयामी और गहन रहा है। भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही विद्वानों ने वैदिक साहित्य, उपनिषद, महाकाव्य, पुराण और दार्शनिक दर्शनों के माध्यम से हिन्दू दर्शन की उत्पत्ति, विकास और प्रभाव का विश्लेषण किया है। इस समीक्षा में प्रमुख विद्वानों के विचारों को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है।

मैक्स मूलर ने Sacred Books of the East के माध्यम से वैदिक साहित्य का अनुवाद और व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने वैदिक धर्म को प्रकृतिदृपूजा से विकसित एक दार्शनिक चेतना के रूप में देखा। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'ऋत' की अवधारणा हिन्दू दर्शन की नैतिक और ब्रह्माण्डीय आधारशिला है।

रामशरण शर्मा ने प्राचीन भारत का इतिहास में वैदिक धर्म और दर्शन को सामाजिक–आर्थिक संदर्भों से जोड़कर देखा। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि वैदिक यज्ञ परंपरा केवल धार्मिक कर्मकांड नहीं थी, बल्कि सामाजिक संगठन और उत्पादन प्रणाली से भी जुड़ी हुई थी।

आर.सी. मजूमदार ने वैदिक दर्शन को भारतीय सभ्यता की आत्मा बताते हुए कहा कि धर्म, कर्म और सामाजिक कर्तव्य की अवधारणाएँ यहीं से विकसित हुईं।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन[1] की कृति भारतीय दर्शन उपनिषदिक दर्शन की सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्या मानी जाती है। उन्होंने ब्रह्मदृआत्मा के सिद्धांत को भारतीय दार्शनिक परंपरा की केंद्रीय धुरी माना। राधाकृष्णन के अनुसार उपनिषदों ने धार्मिक कर्मकांड से ऊपर उठकर आत्मबोध और ज्ञान को सर्वोच्च स्थान दिया।

डॉ. राधाकृष्णन[2] यह भी स्पष्ट करते हैं कि उपनिषदिक दर्शन मानव को बंधन से मुक्ति की ओर ले जाता है और यहीं से मोक्ष की दार्शनिक अवधारणा विकसित होती है।

एस.एन. दासगुप्ता[3] ने A History of Indian Philosophy में उपनिषदों को दार्शनिक चिंतन की क्रांतिकारी अवस्था माना है। उनके अनुसार उपनिषदों ने भारतीय दर्शन को तर्क, विवेक और आध्यात्मिक अनुभव के समन्वय की दिशा दी। हिन्दू धार्मिक दर्शन के कर्म सिद्धांत पर व्यापक साहित्य उपलब्ध है। राधाकृष्णन के अनुसार कर्म सिद्धांत भारतीय नैतिकता का आधार है, जो व्यक्ति को उसके कर्मों के प्रति उत्तरदायी बनाता है। डॉ. एस.एन. दासगुप्ता का मानना है कि पुनर्जन्म का सिद्धांत केवल धार्मिक विश्वास नहीं, बल्कि नैतिक न्याय की अवधारणा है। यह सिद्धांत जीवन को एक निरंतर नैतिक प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करता है।

रामचंद्र शुक्ल[4] ने भक्ति आंदोलन को हिन्दू दर्शन का मानवीय और लोकतांत्रिक रूप बताया। उनके अनुसार भक्ति ने दर्शन को भावनात्मक गहराई प्रदान की और सामाजिक समरसता को बढ़ावा दिया।

बी.एन. पांडे और रोमिला थापर[5] ने हिन्दू दर्शन को ऐतिहासिक संदर्भ में समझने पर बल दिया। थापर के अनुसार दर्शन को स्थिर नहीं, बल्कि ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में देखना चाहिए।

आधुनिक विद्वानों ने हिन्दू धार्मिक दर्शन की आलोचनात्मक समीक्षा भी की है। **डॉ. भीमराव अंबेडकर**[6] ने कर्म और वर्ण व्यवस्था की आलोचना करते हुए इसे सामाजिक असमानता का कारण बताया। उनके अनुसार दर्शन की नियतिवादी व्याख्या समाज के कमजोर वर्गों के लिए बाधक बनी।

राधाकृष्णन[7] के अनुसार गीता हिन्दू दर्शन का समन्वयवादी ग्रंथ है, जिसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति का संतुलन दिखाई देता है। पुराणिक दर्शन पर हजारीप्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल जैसे विद्वानों ने गहन अध्ययन किया है। द्विवेदी के अनुसार पुराणों ने दर्शन को जनसाधारण से जोड़ा और ईश्वर को सगुण, साकार रूप में प्रस्तुत किया।

राधाकृष्णन और दासगुप्ता दोनों ही विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि मोक्ष हिन्दू दर्शन का अंतिम लक्ष्य है, जिसे ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों मार्गों से प्राप्त किया जा सकता है। महाभारत और रामायण के दार्शनिक पक्ष पर अनेक विद्वानों ने अध्ययन किया है।[8] **रामधारी सिंह 'दिनकर'** ने संस्कृति के चार अध्याय में महाकाव्यों को भारतीय दर्शन का जीवंत रूप बताया।[9] उनके अनुसार रामायण धर्म की नैतिक व्याख्या है, जबकि महाभारत जीवन के संघर्षों का दार्शनिक दस्तावेज।

भगवद्गीता पर तिलक की गीता रहस्य अत्यंत महत्वपूर्ण कृति है। तिलक ने गीता को कर्मयोग का दर्शन माना और निष्काम कर्म को हिन्दू धार्मिक दर्शन का सार बताया।[10]

लुई डुमों ने Homo Hierarchicus में हिन्दू दर्शन को सामाजिक संरचना, विशेषतः वर्ण व्यवस्था के संदर्भ में देखा। उन्होंने कर्म और धर्म को सामाजिक पदानुक्रम से जोड़ा, हालाँकि भारतीय विद्वानों ने उनकी व्याख्या को आंशिक और एकांगी माना है।[11]

हालाँकि राधाकृष्णन और अन्य विद्वानों ने यह स्पष्ट किया कि हिन्दू दर्शन का मूल स्वरूप मानवीय, नैतिक और आध्यात्मिक था, किंतु बाद के काल में इसमें विकृतियाँ आईं।

उद्देश्य

1. प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में हिन्दू धार्मिक दर्शन की उत्पत्ति और विकास का विश्लेषण करना।
2. वैदिक और उपनिषदिक साहित्य में निहित दार्शनिक अवधारणाओं–ऋत, धर्म, ब्रह्म, आत्मा, कर्म एवं मोक्षकृका तात्त्विक विवेचन करना।
3. महाकाव्यीय साहित्य (रामायण और महाभारत) में प्रस्तुत धार्मिक–दार्शनिक विचारधाराओं का विश्लेषण करना ।
4. हिन्दू धार्मिक दर्शन में निहित पुरुषार्थ सिद्धांत (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की अवधारणा का विश्लेषण करना, तथा जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों के बीच संतुलन को स्पष्ट करना।
5. हिन्दू धार्मिक दर्शन के भारतीय सामाजिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर पड़े प्रभावों का ऐतिहासिक मूल्यांकन करना।

निष्कर्ष : निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास में हिन्दू धार्मिक दर्शन एक गतिशील, बहुआयामी और समन्वयवादी विचारधारा रहा है। इसने मानव जीवन को केवल सांसारिक स्तर पर नहीं, बल्कि आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक पहुँचाने का मार्ग प्रशस्त किया। आज भी यह दर्शन वैश्विक स्तर पर नैतिकता, शांति और आत्मबोध के लिए प्रासंगिक है।

संदर्भ सूची

1. राधाकृष्णन, एस. (2024) भारतीय दर्शन (भाग–1), नई दिल्ली, राजपाल एंड सन्स।
2. राधाकृष्णन, एस. (2022) भारतीय दर्शन (भाग–2), नई दिल्ली, राजपाल एंड सन्स।
3. दासगुप्ता, एस. एन. (2019), भारतीय दर्शन का इतिहास, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
4. शुक्ल, रामचन्द्र (2023) हिन्दी साहित्य का इतिहास, वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा।
5. थापर, रोमिला (2022) प्राचीन भारत की सांस्कृतिक परंपराएँ, नई दिल्ली, पेंगुइन इंडिया।
6. अम्बेडकर, भीमराव. (2014) हिन्दू धर्म की पहेलियाँ, नई दिल्ली, सम्यक प्रकाशन।
7. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (2014) भारतीय संस्कृति और साहित्य, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
8. राधाकृष्णन, स. (1923) द हिंदू व्यू ऑफ लाइफ. लंदन, जॉर्ज एलेन एंड अनविन।
9. दिनकर, रामधारी सिंह (2013) संस्कृति के चार अध्याय, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
10. वाल्मीकि (2011) वाल्मीकि रामायण (हिन्दी अनुवाद) गोरखपुर, गीता प्रेस।
11. डुमों, ल. (1966) होमो हाइरार्किकस, द कास्ट सिस्टम एंड इट्स इम्प्लिकेशंस, शिकागो, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

गठबंधन सरकारों और राजनीतिक अस्थिरताः एक व्यापक अध्ययन

डॉ. राजमणि कुमारी*

सार–

यह अध्ययन गठबंधन सरकारों और राजनीतिक अस्थिरता के बीच के संबंधों का विश्लेषण करता है। भारत में गठबंधन सरकारों का गठन मुख्य रूप से किसी एक पार्टी के बहुमत में न आने के कारण हुआ है। इन सरकारों में विभिन्न दलों के मिलकर कार्य करने के बावजूद, विचारधाराओं के अंतर, विश्वास की कमी और छोटे दलों के दबाव के कारण अक्सर अस्थिरता पैदा होती है। इस अस्थिरता के परिणामस्वरूप सरकारें गिर सकती हैं, नीति निर्माण में बाधाएं उत्पन्न होती हैं, और प्रशासनिक कार्यों में रुकावटें आती हैं। अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि गठबंधन सरकारों का राजनीतिक अस्थिरता पर क्या प्रभाव पड़ता है और इस अस्थिरता को कम करने के लिए क्या उपाय किए जा सकते हैं। अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि गठबंधन सरकारों की सफलता के लिए दलों के बीच विश्वास, बेहतर संवाद और सामूहिक हितों को प्राथमिकता देना आवश्यक है। यदि गठबंधन दल एकजुट होकर कार्य करते हैं, तो इन सरकारों की स्थिरता बढ़ सकती है और राजनीतिक प्रक्रिया पर सकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है।

मूल शब्द– गठबंधन सरकार, राजनीतिक अस्थिरता, संसदीय गतिरोध, स्थिरता और अस्थिरता, सामाजिक न्याय, एवं विकासात्मक कार्यक्रम आदि।

भारत की राजनीति में गठबंधन सरकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। खासकर, 1990 के दशक से लेकर अब तक गठबंधन सरकारों का गठन प्रमुख रूप से आम चुनावों में किसी एक पार्टी के बहुमत हासिल करने में असमर्थ रहने के कारण हुआ है। भारत में गठबंधन सरकारों का गठन केंद्र और राज्य स्तर पर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करता है, क्योंकि यह सरकारें विभिन्न विचारधाराओं और हितों वाली पार्टियों द्वारा बनाई जाती हैं। ये गठबंधन राजनीतिक अस्थिरता और संवैधानिक संकट का कारण भी बन सकते हैं, जैसा कि कई उदाहरणों से स्पष्ट होता है।

गठबंधन सरकारों की अस्थिरता के कारण अक्सर सरकारों का विघटन, बहुमत खोने या राजनीतिक विश्वासघात जैसी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, जो राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। ऐसी परिस्थितियों में नीति निर्माण प्रक्रिया, प्रशासनिक कार्यवाही और शासन की प्रभावशीलता पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। गठबंधन सरकारों और राजनीतिक अस्थिरता के बीच के संबंधों को समझना और यह विश्लेषण करना है कि गठबंधन सरकारों के कारण राजनीतिक स्थिरता को कैसे प्रभावित किया जाता है।

भारत में गठबंधन सरकारों का इतिहास 1977 से शुरू होता है, जब जनता पार्टी ने कांग्रेस पार्टी को सत्ता से बाहर किया और केंद्र में अपनी सरकार बनाई। इसके बाद, 1989 में नवीनतम गठबंधन के रूप में एनडीए (NDA) और यूपीए (UPA) जैसी गठबंधनों की शुरुआत हुई। साहित्य में यह देखा गया है कि गठबंधन सरकारों का गठन तब होता है जब कोई एक पार्टी पूर्ण बहुमत प्राप्त करने में असमर्थ होती है।

गंभीर (2004) के अनुसार, गठबंधन सरकारों का गठन भारतीय लोकतंत्र की एक स्वाभाविक प्रक्रिया बन गया है, जहां विभिन्न दल एक साथ मिलकर सरकार बनाते हैं, हालांकि यह अस्थिरता का कारण बन सकता है।[1]

राजीव (2010) ने अपने अध्ययन में यह बताया कि गठबंधन सरकारों में छोटे दलों का अत्यधिक प्रभाव होता है, जो उनकी अस्थिरता को बढ़ाते हैं। इनमें लचीलापन और समझौते की कमी होती है, जिसके कारण सरकार गिरने की संभावना बढ़ जाती है। इसके अलावा, इन सरकारों में 'अस्थिर गठबंधन' की स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें सत्ता में बने रहने के लिए छोटे दलों को संतुष्ट करना पड़ता है, और इस प्रकार यह सरकारें अक्सर निर्णय लेने में धीमी होती हैं।[2] गठबंधन सरकारों में अक्सर अस्थिरता देखने को मिलती है, जो खासकर विचारधाराओं और उद्देश्यों के बीच भिन्नताओं के कारण उत्पन्न होती है।

* एम0 ए0, पी–एच0डी0, राजनीति विज्ञान विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
Mob. No.: 9334390170, E-mail Id : drrajmanikumari@gmail.com

कुमार (2017) के अनुसार, गठबंधन सरकारों की अस्थिरता आमतौर पर अगले चुनावों में उनकी विफलता की ओर ले जाती है, जैसे कि जनता पार्टी (1977) और नवीनतम एनडीए (1999–2004) सरकारों के मामलों में देखा गया था।[3]

शर्मा (2012) के अनुसार, इन सरकारों ने भारतीय राजनीति को संवेदनशील और समावेशी बनाया है, जहां राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों के सहयोग से विभिन्न नीतियाँ और योजनाएँ बनती हैं। हालांकि, यह सरकारें प्रशासनिक स्तर पर कमजोर होती हैं, क्योंकि हर दल के अपने लक्ष्य होते हैं, जिससे निर्णय प्रक्रिया में विलंब होता है।[4]

अजय (2015) का कहना है कि गठबंधन सरकारों के कारण निर्णयों की गति धीमी हो जाती है और महत्वपूर्ण मुद्दों पर निर्णय लेने में कई बार संकट उत्पन्न हो जाते हैं। यह स्थिति सत्ता संघर्ष और दलों के बीच असहमति के कारण और भी जटिल हो जाती है।[5]

मिश्रा (2013) ने अपने अध्ययन में यह बताया कि गठबंधन सरकारों में आम तौर पर दो या दो से अधिक विचारधाराएँ शामिल होती हैं, जो न केवल नीति निर्माण में दिक्कतें उत्पन्न करती हैं, बल्कि कार्यान्वयन के दौरान भी समस्याएँ खड़ी करती हैं। वामपंथी और दक्षिणपंथी दलों के बीच विचारधारा के अंतर को दूर करना और इनकी नीतियों को सुलझाना एक कठिन कार्य होता है।[6]

सिंह (2016) के अनुसार, गठबंधन सरकारों में राजनीति और सत्ता के समीकरण पर विचार करते समय इन दलों के बीच सामंजस्य और समझौते की स्थिति उत्पन्न करना सबसे बड़ा चुनौतीपूर्ण कार्य होता है।[7]

गठबंधन सरकारों की अस्थिरता को नियंत्रित करने के लिए कुछ उपाय किए जा सकते हैं। दक्षिणी (2018) ने यह बताया कि अगर गठबंधन दलों के बीच एक स्पष्ट, साझा दृष्टिकोण और मजबूत संवाद स्थापित किया जाए, तो सरकारों की स्थिरता बढ़ सकती है। इसके अतिरिक्त, नीति निर्माण और निर्णय प्रक्रिया में शीघ्रता और पारदर्शिता का पालन किया जाए, तो अस्थिरता को कम किया जा सकता है।[8]

जॉन्सन, एम. (2011) गठबंधन सरकारें और राजनीतिक अस्थिरताः एक वैश्विक दृष्टिकोण, जॉन्सन ने अपने अध्ययन में वैश्विक परिप्रेक्ष्य में गठबंधन सरकारों और राजनीतिक अस्थिरता के बीच के संबंधों को समझने का प्रयास किया। उन्होंने यह बताया कि विभिन्न देशों में गठबंधन सरकारें स्थिरता और अस्थिरता दोनों का कारण बन सकती हैं, इस पर उनकी विचारधारा और गठबंधन में शामिल दलों के संघर्षों का गहरा प्रभाव पड़ता है। जॉन्सन के अनुसार, गठबंधन सरकारें छोटे दलों के दबाव, विचारधाराओं के संघर्ष और सामूहिक निर्णय लेने में कठिनाइयों के कारण अस्थिर होती हैं, जो अंततः सरकार के पतन का कारण बन सकती हैं।[9]

नेगी, एस. (2014), भारत में छोटे दलों की भूमिका और गठबंधन सरकारों की अस्थिरता. देहरादूनरू उत्तराखंड विश्वविद्यालय। नेगी के अध्ययन में भारत में गठबंधन सरकारों की अस्थिरता में छोटे दलों की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि छोटे दलों का महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि वे गठबंधन सरकारों के गठन में एक निर्णायक भूमिका निभाते हैं, लेकिन उनका स्वार्थ और नीतियों के प्रति लचीलापन अक्सर गठबंधन को अस्थिर बना देता है। उदाहरण के तौर पर, भारतीय राजनीति में छोटे दलों द्वारा सत्ता संघर्ष और विचारधारा की असहमति के कारण कई बार सरकारें गिर चुकी हैं।[10]

पांडेय, ए. (2019), गठबंधन सरकारों के अंदरूनी संघर्ष और उनके राजनीतिक परिणाम में नेशनल बुक ट्रस्ट। पांडेय ने अपने अध्ययन में गठबंधन सरकारों के अंदरूनी संघर्षों और उनके राजनीतिक परिणामों पर गहरी चर्चा की है। उन्होंने यह दिखाया कि गठबंधन सरकारों के भीतर सत्ता की असमान भागीदारी, विभिन्न दलों के बीच आपसी असहमति और कार्यों में समन्वय की कमी अस्थिरता का कारण बनती है। पांडेय के अनुसार, इन संघर्षों से सरकार का संचालन प्रभावित होता है, जिससे प्रशासनिक कार्यों में धीमी गति और नीतिगत निर्णयों में स्थिरता की कमी आती है।[11]

भारत में गठबंधन सरकारें भारतीय राजनीति की अनिवार्य और स्वाभाविक प्रक्रिया बन चुकी हैं। हालांकि, ये सरकारें अक्सर राजनीतिक अस्थिरता का कारण बनती हैं, लेकिन यदि इनमें विचारों में सामंजस्य, एकजुटता, और स्पष्ट नीति निर्माण की प्रक्रिया हो, तो ये सरकारें अपने कार्यकाल में स्थिरता प्राप्त कर सकती हैं।

उद्देश्य

1. गठबंधन सरकारों का विश्लेषण– इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य गठबंधन सरकारों के गठन के कारणों का विश्लेषण करना है और यह समझना है कि वे किस तरह से राजनीतिक अस्थिरता को जन्म देती हैं।
2. राजनीतिक अस्थिरता पर प्रभाव– यह अध्ययन यह देखेगा कि गठबंधन सरकारें राजनीतिक अस्थिरता को किस हद तक प्रभावित करती हैं और क्या इसके दीर्घकालिक प्रभाव होते हैं।
3. समाधान और सुझाव– अध्ययन का एक और उद्देश्य यह होगा कि गठबंधन सरकारों की अस्थिरता को नियंत्रित करने के उपाय सुझाए जाएं और राजनीतिक स्थिरता बढ़ाने के लिए क्या कदम उठाए जा सकते हैं।
4. भारत की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में प्रभाव– गठबंधन सरकारों के कारण भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में होने वाले बदलावों और चुनौतियों पर भी ध्यान केंद्रित किया गया।

पद्धति– यह अध्ययन गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों प्रकार की विधियों का उपयोग करेगा। इसमें निम्नलिखित पद्धतियाँ शामिल हैं, जिसमें गठबंधन सरकारों के इतिहास, सिद्धांत, और राजनीति पर आधारित पहले से प्रकाशित शोधपत्रों, लेखों, और पुस्तकों का अध्ययन किया गया है। साथ ही राजनीतिक विश्लेषकों, पत्रकारों और विशेषज्ञों के साथ साक्षात्कार लेकर गठबंधन सरकारों और अस्थिरता पर उनके दृष्टिकोण को समझने की कोशिश की गई। एक प्रश्नावली तैयार कर राजनीतिक पार्टी के कार्यकर्ताओं, विधायकों, और मतदाताओं से गठबंधन सरकारों और राजनीतिक अस्थिरता पर उनके विचार प्राप्त किया गया। ये विभिन्न राज्यों और केंद्र सरकार के उदाहरणों का विश्लेषण किया गया था, ताकि यह समझा जा सके कि गठबंधन सरकारों का गठन कैसे राजनीतिक अस्थिरता को प्रभावित करें।

विश्लेषण–

भारत में 1977 से लेकर अब तक, गठबंधन सरकारों का गठन लगातार बढ़ा है, विशेषकर तब जब कोई एक पार्टी बहुमत हासिल करने में असमर्थ रही है। उदाहरण के रूप में, जनता पार्टी (1977) और यूपीए (2004–2014) सरकारों को देखा जा सकता है। इन सरकारों का गठन कई दलों के आपसी समझौते और सहमति पर आधारित था, लेकिन इसके बावजूद यह सरकारें कई बार राजनीतिक अस्थिरता का शिकार हो गईं। गठबंधन सरकारों के गठन के कारण विभिन्न दलों के विचारधाराएँ और लक्ष्यों में भिन्नताएँ उत्पन्न होती हैं। जब इन दलों के बीच संवाद और समझौते की कमी होती है, तो यह अस्थिरता का कारण बनता है। छोटे दलों का दबाव और विश्वासघात के मामले भी बार–बार उत्पन्न होते हैं।

1. विचारधारा का अंतर और असहमति– गठबंधन सरकारों में विचारधाराओं का अंतर प्रमुख कारण बनता है, जिससे निर्णय लेने में विलंब होता है। जैसे कि वामपंथी और दक्षिणपंथी दलों के बीच असहमतियाँ गठबंधन सरकारों में अक्सर देखने को मिलती हैं। विचारधाराओं में अंतर के कारण नीति निर्धारण और कार्यान्वयन में रुकावटें आती हैं। उदाहरण के तौर पर, 1990 के दशक में भारत में गठबंधन सरकारों के दौरान देखा गया था कि विभिन्न विचारधारा वाले दलों के बीच समझौता करना एक कठिन कार्य था, जिससे नीति में लचीलापन और स्थिरता की कमी आई।

2. सत्ता संघर्ष और विश्वासघात– गठबंधन दलों के बीच सत्ता संघर्ष और विश्वासघात अस्थिरता को बढ़ावा देते हैं। अक्सर, एक दल दूसरे दल को सत्ता के हिस्से को लेकर दबाव डालता है, या फिर चुनावों में समर्थन वापस लेने की धमकी देता है, जिससे सरकार गिरने की संभावना बढ़ जाती है। सत्ता संघर्ष और विश्वासघात के मामलों में सरकार का स्थायित्व खत्म हो जाता है। उदाहरण के लिए, 1999 में आडवाणी सरकार का पतन और 2004 में यूपीए सरकार का गठन इसी तरह के घटनाओं के परिणामस्वरूप हुआ।

3. गठबंधन सरकारों का दीर्घकालिक प्रभाव– हालांकि गठबंधन सरकारों में अस्थिरता होती है, लेकिन इनका दीर्घकालिक प्रभाव लोकतंत्र को सशक्त बनाने में भी देखा गया है। छोटे दलों को भागीदारी और क्षेत्रीय हितों का प्रतिनिधित्व गठबंधन सरकारों के सकारात्मक पक्ष हैं। गठबंधन सरकारें विभिन्न समुदायों और क्षेत्रीय दलों की आवाज को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सम्मिलित करती हैं, जिससे देश में सामूहिक शासन का रूप विकसित होता है। इसके बावजूद, अगर गठबंधन में सामंजस्य और एकजुटता नहीं होती है, तो यह अस्थिरता का कारण बनता है।

4. समाधान और सुधारात्मक उपाय– गठबंधन सरकारों में अस्थिरता को कम करने के लिए कुछ सुधारात्मक उपाय किए जा सकते हैं, गठबंधन दलों के बीच नियमित संवाद और समझौते की प्रक्रिया को सुदृढ़ किया जाना चाहिए।

स्पष्ट नीतियाँ और लक्ष्य द्वारा गठबंधन दलों को स्पष्ट और साझा लक्ष्य के लिए काम करना चाहिए, जिससे निर्णय लेने की प्रक्रिया में तेजी आए। संविधानिक सुधार से गठबंधन सरकारों के गठन और संचालन के लिए संवैधानिक सुधारों की आवश्यकता हो सकती है, जो स्थिरता और सामंजस्य को बढ़ावा दें।

गठबंधन सरकारों की अस्थिरता से गठबंधन सरकारों में विचारधाराओं के अंतर, विश्वासघात, और सत्ता संघर्ष के कारण राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न होती है। हालांकि, इन सरकारों ने लोकतंत्र को और भी समावेशी और संवेदनशील बनाया है।

राजनीतिक स्थिरता की आवश्यकता से गठबंधन सरकारों की स्थिरता को बनाए रखने के लिए मजबूत संवाद, सामूहिक हितों की प्राथमिकता, और दलों के बीच समझौते की आवश्यकता है। यह अस्थिरता को कम करने के लिए आवश्यक कदम हो सकते हैं। दीर्घकालिक प्रभाव में भी गठबंधन सरकारें भारतीय लोकतंत्र में लोकतांत्रिक विविधता और सामाजिक संतुलन को बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं, लेकिन उनकी स्थिरता के लिए राजनीतिक दलों को सशक्त और परिपक्व होना पड़ेगा। अंत में, इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि गठबंधन सरकारों का अस्तित्व भारतीय राजनीति का अनिवार्य हिस्सा है, लेकिन इनकी अस्थिरता को नियंत्रित करने के लिए आवश्यक सुधारों और सुधारात्मक उपायों की जरूरत है।

चर्चा– गठबंधन सरकारों के निर्माण का एक मुख्य कारण भारतीय राजनीति में किसी एक पार्टी का बहुमत हासिल करना मुश्किल होना है। गठबंधन सरकारों की अस्थिरता का मुख्य कारण विचारधाराओं के बीच भिन्नताएँ, छोटे दलों की भूमिका और सत्ता संघर्ष हैं। हालांकि, यह अस्थिरता भारतीय लोकतंत्र में विविधता और प्रतिनिधित्व को बढ़ावा देती है, लेकिन इसके लिए स्पष्ट समझौते और दलों के बीच बेहतर संवाद की आवश्यकता है, ताकि इन समस्याओं को कम किया जा सके और सरकार की स्थिरता सुनिश्चित की जा सके। हालांकि, गठबंधन सरकारों ने लोकतांत्रिक प्रक्रिया को सशक्त बनाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जैसे कि विभिन्न विचारधाराओं को एकत्र करके एक समान उद्देश्य की ओर कार्य करना। इसके बावजूद, इन सरकारों के अस्थिर होने से न केवल राजनीतिक संकट उत्पन्न होते हैं, बल्कि नीति निर्माण की प्रक्रिया भी प्रभावित होती है। वर्तमान समय में, गठबंधन सरकारों की अस्थिरता को कई कारक प्रभावित करते हैं, जैसे कि पार्टी के बीच असहमतियाँ, व्यक्तिगत स्वार्थ, और छोटे दलों का दबाव। ऐसे में, गठबंधन सरकारों की सफलता के लिए इन मुद्दों पर विचार करना आवश्यक है।

निष्कर्ष– गठबंधन सरकारें भारतीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं, लेकिन ये अक्सर राजनीतिक अस्थिरता का कारण भी बनती हैं। हालांकि, जब तक प्रमुख दल एक साथ मिलकर काम करते हैं और अपनी विचारधाराओं में लचीलापन दिखाते हैं, तब तक ये सरकारें स्थिर रह सकती हैं। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि गठबंधन सरकारों के स्थायित्व के लिए बेहतर संवाद, स्पष्ट नीति निर्धारण, और गठबंधन दलों के बीच विश्वास की आवश्यकता होती है। साथ ही, भारतीय लोकतंत्र की प्रक्रिया में स्थिरता बनाए रखने के लिए राजनीतिक दलों को सामूहिक हितों को प्राथमिकता देने की आवश्यकता है, न कि केवल अपने पार्टी स्वार्थों को।

संदर्भ सूची

1. गंभीर, न. (2004) गठबंधन राजनीति और भारतीय लोकतंत्ररू एक विश्लेषण. दिल्ली– वाणी प्रकाशन.
2. राजीव, ए. (2010) गठबंधन सरकारों की अस्थिरतारू कारण और प्रभाव. मुंबई– भारतीय राजनीतिक विज्ञान संस्थान।
3. कुमार, आर. (2017) भारत में गठबंधन सरकारों का उत्थान और पतनरू ऐतिहासिक दृष्टिकोण. पटना– बिहार विश्वविद्यालय प्रकाशन।
4. शर्मा, एस. (2012) राजनीतिक अस्थिरता और गठबंधन सरकारों का प्रभाव. कोलकाता, कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रेस।
5. अजय, बी. (2015) भारतीय गठबंधन राजनीति 21वीं सदी के परिप्रेक्ष्य में, जयपुर– राजस्थान विश्वविद्यालय प्रकाशन ।
6. मिश्रा, जे. (2013) विचारधारा और गठबंधन राजनीतिः एक तुलनात्मक अध्ययन, इलाहाबाद– इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

7. सिंह, एस. (2016) गठबंधन सरकारें और प्रशासनिक चुनौतियाँ. दिल्ली– भारतीय प्रबंधन संस्थान।
8. दक्षिणी, पी. (2018) गठबंधन सरकारों में स्थिरता और समाधान– एक सुधारात्मक दृष्टिकोण, चेन्नई, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन।
9. जॉन्सन, एम. (2011) गठबंधन सरकारें और राजनीतिक अस्थिरता: एक वैश्विक दृष्टिकोण, लंदन, रूटलेज।
10. नेगी, एस. (2014) भारत में छोटे दलों की भूमिका और गठबंधन सरकारों की अस्थिरता, देहरादून– उत्तराखंड विश्वविद्यालय।
11. पांडेय, ए. (2019) गठबंधन सरकारों के अंदरूनी संघर्ष और उनके राजनीतिक परिणाम, दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट।

उत्तर प्रदेश की चित्रकला में रंग–प्रतीक और भाव–मनःस्थिति

चन्दा यादव*

उत्तर प्रदेश की चित्रकला परंपरा रंगों के प्रतीक और भावनात्मक अभिव्यक्ति के मध्य गहरे अन्तर्सम्बन्ध को दर्शाती है, जहाँ रंग सिर्फ़ दृश्य तत्व के तौर पर ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक अर्थों के रूप में कार्य करते हैं। मुगल और अवध के लघु चित्र की शाही शान से लेकर ब्रज चित्रकला की भक्ति की चमक और वाराणसी की पवित्र कल्पना की आध्यात्मिक गहराई तक, लाल, पीला, नीला, हरा और केसरिया जैसे रंग अलग–अलग मनोदशा, दार्शनिक विचार और सामाजिक आदर्श को व्यक्त करते हैं। भारतीय कला दर्शन और रस सिद्धान्त से प्रेरिते, ये रंग भक्ति और शांति से लेकर वीरता और आत्मोद्धार जैसी भावनाओं को रूपायित करते हैं। समय के साथ, आधुनिक कलाकारों ने पारंपरिक रंग प्रतीकों को नयें संदर्भो। में पुनर्व्याख्यायित करते हुए को बढ़ाया है, जिसमें आज की सामाजिक यथार्थ और मनोदशाओं को दिखाने के लिए परम्परागत और प्रयोगात्मक दोनों तरह के पैलेट का इस्तेमाल किया गया है। इस तरह, उत्तर प्रदेश की चित्रकला परंपरा में रंगों का इस्तेमाल एक जीवंत सांस्कृतिक भाषा के रूप में विकसित होते हुए, ऐतिहासिक निरंतरता, भावनात्मक गहराई और बदलती सांस्कृतिक पहचान को जोड़ता है।

की–वर्ड– रंग–प्रतीक, भाव–मनःस्थिति, रस–सिद्धांत, सांस्कृतिक चेतना, आध्यात्मिकता, दरबारी कला, भक्ति–परंपरा, लोकचित्र, आधुनिक प्रयोगशीलता, सामाजिक अभिव्यक्ति।

प्रस्तावना

उत्तर प्रदेश की चित्र परंपरा भारतीय कला के बड़े इतिहास में एक अहम हिस्सा है, जिसमें सिर्फ़ रंगों का प्रयोग दार्शनिक सौन्दर्य तक सीमित न होकर, वे प्रतीकात्मक, आध्यात्मिक और भावनात्मक अर्थों से सम्बद्ध होता है। व्रज क्षेत्र की कृष्णा लीला की कल्पनात्मक चित्र परम्परा, अवध की शानदार दरबारी शैलियाँ, काशी की आध्यात्मिक रूप से भरे हुए चित्रण बुंदेलखण्ड की जीवंत लोक चित्र परम्पराएं– इन सभी में रंग एक सशक्त दृश्य भाषा के रूप में कार्य करते हैं जो मन की स्थिति, भक्ति की तीव्रता और सामूहिक सांस्कृतिक चेतना को दर्शाता है।[1]

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में, रंग रस (एस्थेटिक सेंटीमेंट) और भाव (इमोशन) की अवधारणाएं गहराई से जुड़ा हुआ है, जहाँ हर रंग एक खास मनोभाव, अनुभूति और दार्शनिक संकेत का संवाहक माना जाता है। इस तरह, चित्रकला केवल रूप व रेखा का संयोजन नहीं है बल्कि अनुभूति आध्यात्मिकता, प्रतिकात्मकता और सांस्कृति चेतना का सृजनात्मक प्रतिरूप बन जाती है।, जिसमें रंग आत्मानुभूति और सामूहिक स्मृति के मध्य सेतु का कार्य करता है।[2]

इस परंपरा में, लाल, पीला, नीला, हरा और केसरिया जैसे खास रंग हमेशा अहमियत रखते हैं। और मानवीय भावनाओं को अभिव्यक्त करने में केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। लाल रंग अक्सर जीवन शक्ति, भक्ति और वीरता का द्योतक है। पीला रंग ज्ञान, पवित्रता और आध्यात्मिक रोशनी का सुझाव देता है; नीला रंग दिव्य अनंतता और सोच–विचार की गहराई दिखाता है, खासकर वैष्णव प्रतीकों में; हरा रंग फर्टिलिटी, तालमेल और नएपन का प्रतीक है; जबकि केसरिया रंग त्याग, बलिदान और पवित्र जागृति को दिखाता है। रंगों का यह चुनाव रीति–रिवाजों, मौसमी त्योहारों और सामाजिक रीति–रिवाजों में गहराई से जुड़ा हुआ है, जिससे न केवल कलात्मक रूचि बल्कि समुदायों की जीती–जागती सच्चाई भी झलकती है। उत्तर प्रदेश के कलाकारों ने ऐतिहासिक रूप से भावनात्मक माहौल को आकार दिया है, जो भक्ति की शांति और रोमांटिक लालसा से लेकर वीरता और रहस्यमयी उत्कर्ष तक फैला हुआ है। नतीजतन, इस क्षेत्रीय पेंटिंग परंपरा में रंग का उपयोग सौंदर्य अनुशासन, आध्यात्मिक प्रतीकवाद और सामाजिक–सांस्कृतिक पहचान के एक जटिल संश्लेषण को प्रकट करता है, जो भारतीय कला इतिहास के व्यापक विमर्श के भीतर इसकी स्थायी प्रासंगिकता को रेखांकित करता है।[3]

*शोध छात्रा, ललित कला एवं संगीत विभाग, दीनदयाल उपाध्याय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

उत्तर प्रदेश की चित्रकला में लाल, पीला, नीला, हरा और केसरिया रंगों का विशेष महत्व है। ये रंग न केवल दृश्यात्मक आकर्षण उत्पन्न करते हैं, बल्कि धार्मिक आस्था, सामाजिक संरचना और भावात्मक प्रयोगों को भी रूपायित करते हैं।

2. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और शैलीगत विकास

(क) मुगल और अवध शैली

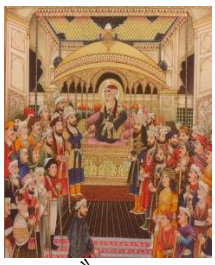

मुगल काल में उत्तर प्रदेश, विशेषकर Agra और Lucknow, चित्रकला के महत्वपूर्ण केंद्रों के रूप में विकसित हुए। आगरा मुगल सत्ता का प्रमुख केंद्र होने के कारण दरबारी कला का संवाहक बना, जहाँ सूक्ष्म रेखांकन, यथार्थवादी चित्रण और :गहन रंग–संयोजन की परंपरा विकसित हुई। मुगल चित्रकला में गहरे लाल, माणिक्य–नीले तथा स्वर्णिम रंगों का प्रयोग शाही वैभव, सामर्थ्य और प्रभुत्व का प्रतीक था। दरबार, युद्ध, शिकार और राजसी समारोहों के चित्रों में सुनहरे रंग और गाढ़े टोन का उपयोग सत्ता, समृद्धि और अधिकार की प्रभावशाली अभिव्यक्ति के रूप में किया गया। रंगों की यह भव्यता केवल सौंदय´–वृद्धि नहीं, बल्कि राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठा का भी द्योतक थी।

अवध शैली, विशेषकर लखनऊ के नवाबी परिवेश में विकसित होकर, मुगल परंपरा से प्रभावित होते हुए भी अपनी विशिष्ट कोमलता और सौंदर्यप्रियता के लिए जानी जाती है। यहाँ कोमल गुलाबी, हल्के हरे और नीले रंगों का प्रयोग भावुकता, श्रृंगार और सूक्ष्म मनोदशाओं को व्यक्त करने के लिए किया गया। नवाबी दरबार की नजाकत, संगीत–नृत्य की सांस्कृतिक परंपरा तथा काव्यात्मक संवेदनशीलता इन चित्रों में रंगों के माध्यम से सजीव हो उठती है। अवध शैली में रंगों का संयमित और संतुलित प्रयोग जीवन के सौम्य, सुसंस्कृत और भावप्रधान पक्ष को उजागर करता है, जो नवाबी संस्कृति की कोमल भाव–प्रवृत्ति और कलात्मक refinement का परिचायक है।[4]

(ख) ब्रज और कृष्ण–भक्ति परंपरा

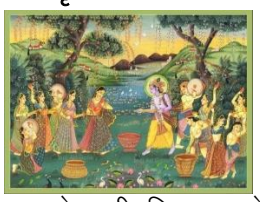

ब्रज क्षेत्र की चित्रकला में, नीला रंग का खास अध्यात्मिक और प्रतीकात्मक महत्व रखता है, जो भगवान कृष्ण के दिव्य रूप, अनंत आकाश और ब्रहाण्डिय विशालता को दर्शाता है। वृंदावन और मथुरा में बनी कृष्ण–लीलात्मक वाली पेंटिंग्स में रंगों का इस्तेमाल सिर्फ़ सजावटी ही नहीं, बल्कि गहरा भावनात्मक भी है। पीला रंग वसंत, खुशी और दिव्य रोशनी को दिखाता है, खासकर कृष्ण के पीले कपड़े के रूप में; लाल रंग प्यार, उत्साह और शक्ति को दिखाता है; जबकि हरा रंग प्रकृति, उर्वरता और जीवन के संतुलन को दर्शाता है। इन रंगों का संतुलित संयोजन ब्रज की सांस्कृतिक और धार्मिक चेतना को साफ़ तौर पर संजीव रूप से प्रस्तुत करता है।

रास लीला, झूलन उत्सव और होली जैसे प्रसंगों को दिखाने में चमकीले और चटक रंगों का बहुत ज्यादा इस्तेमाल मिलकर खुशी, मिठास और आध्यात्मिक खुशी का एहसास कराता है। रंगों की तीव्रता और लयात्मकता चित्रों में भक्ति की तीव्रता दर्शाती है, जिससे देखने वाला न सिर्फ़ दृश्य देख पाता है बल्कि भावनात्मक हिस्सा भी ले पाता है। इस परंपरा में, रंग प्रेम, भक्ति और ईश्वरत्व की सूक्ष्म भावनाओं को मूर्त

करने के लिए प्रतीकात्मक माध्यम के रूप में काम करते हैं, जो भारतीय सौंदर्यशास्त्र के 'रस' सिद्धांत से गहराई से जुड़ा हुआ है।[5]

(ग) काशी की आध्यात्मिक चित्र परंपरा

काशी की चित्रकला में रंगों का इस्तेमाल बहुत ज्यादा आध्यात्मिक और दार्शनिक सम्बन्ध है। केसरिया और स्वर्णिम रंग, खास तौर पर, तपस्या, त्याग, ज्ञान और आध्यात्मिक जागृति का प्रतीक हैं। काशी को मोक्ष की नगरी के तौर पर देखा जाता है, और यह आध्यात्मिक सोच चित्रकला में रंगों के संयोजन के ज़रिए चित्रांकन दो दर्शाती है। गंगा आरती के सीन में, दीयों की सुनहरी चमक, धुएं की धूसर परतें, और शाम का गहरा नीला आकाश, जीवन–मृत्यु, संसारिकता और मोक्ष के बीच के रिश्ते को दर्शाता है। यहाँ, नीला रंग अनंतता और आध्यात्मिक गहराई का संकेत देता है, जबकि सुनहरी रोशनी ईश्वरीय मौजूदगी और आशा का प्रतीक है।

घाटों के चित्रण में, भूरा, मटमैला और धूसर रंग जीवन की क्षणभंगुरता, समय के बहावपन और इंसानी अस्तित्व की सीमितता का एहसास कराते हैं। सीढ़ियों, पुराने मंदिरों और बहती गंगा के साथ इन रंगों का संयोजन एक भावनात्मक नज़ारा बनाता है जहाँ देखने वाला न सिर्फ़ दृश्य देखता है बल्कि वजूद और आत्मा के सवालों का भी सामना करता है। इस प्रकार, काशी चित्रकला परंपरा में रंग केवल सजावटी तत्व नहीं हैं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक चेतना की गहराई को प्रकट करते हुए दार्शनिक चिंतन और आध्यात्मिक अनुभव के सशक्त माध्यम बन जाते हैं।[6]

3. रंग–प्रतीक और भाव–मनःस्थिति

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में, रंग और 'रस' के बीच का रिश्ता बहुत करीबी माना जाता है, जिसमें हर रंग एक खास भावानुभूति और मन की हालत को दर्शाता है। जहाँ लाल रंग बहादुरी, प्यार और ऊर्जा को दिखाता है, वहीं पीला रंग शांति, ज्ञान और भक्ति को दिखाता है। नीला रंग अनंतता, आध्यात्मिक गहराई और दैवीय चेतना से जुड़ा है; हरा रंग जीवन, प्रकृति और संतुलन को दिखाता है; और केसरिया रंग त्याग, तपस्या और खुद को बेहतर बनाने को दिखाता है। उत्तर प्रदेश के चित्रकला में इन रंगों का इस्तेमाल एक जैसा नहीं, बल्कि प्रसंग के हिसाब से और मूड पर निर्भर करता है। दरबारी चित्रों में, गाढ़े और चटक रंग शाही शान, शक्ति और एश्वर्य का एहसास कराते हैं, जबकि लोक चित्रकला में, चमकीले और धूसर रंग मिलकर जश्न मनाने, लोक खुशी और सांस्कृतिक जीवंता को दिखाते हैं। धार्मिक और भक्ति वाली पेंटिंग में, सॉफ्ट और संतुलित रंगों का संयोजन शांति, भक्ति और आध्यात्मिक जुड़ाव की भावनाएँ जगाता है। इस प्रकार, रंग न केवल दृश्य प्रभाव का एक साधन हैं, बल्कि भावनाओं और मनोदशाओं के सूक्ष्म संचार का माध्यम भी हैं, जो कलाकार की आंतरिक चेतना और सामाजिक परिवेश दोनों को प्रतिबिम्बित करते हैं।[7]

4. आधुनिक संदर्भ और भावात्मक विस्तार

आधुनिक युग में उत्तर प्रदेश की चित्रकला में रंगों का प्रयोग अधिक प्रयोगधर्मी, व्यक्तिनिष्ठ और बहुआयामी हो गया है। समकालीन कलाकार पारंपरिक रंग–प्रतीकों को यथावत स्वीकार करने के बजाय उन्हें नए सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों में पुनर्परिभाषित कर रहे हैं। अब रंग केवल धार्मिक या पौराणिक संकेतों तक सीमित नहीं, बल्कि सामाजिक तनाव, पर्यावरणीय संकट, शहरीकरण, सांस्कृतिक संक्रमण और व्यक्तिगत मानसिक द्वंद्व की अभिव्यक्ति का भी माध्यम बन गए हैं। विशेषकर लखनऊ और काशी के आधुनिक कलाकारों ने अमूर्त एवं अभिव्यंजनात्मक शैलियों में गहरे काले, धूसर तथा तीव्र लाल रंगों का प्रयोग कर समकालीन समाज की विडंबनाओं, असंतुलन और अंतर्द्वंद्व को चित्रित किया है। इस प्रवृत्ति से स्पष्ट होता है कि रंग–प्रतीक अब स्थिर और एकार्थी नहीं रहे, बल्कि परिवर्तनीय, संदर्भ–निर्भर और बहुस्तरीय अर्थों से युक्त हो गए हैं, जो कला को समसामयिक संवेदना से जोड़ते हैं।[8]

5. निष्कर्ष

उत्तर प्रदेश की चित्रकला में रंग–प्रतीक और भाव–मनःस्थिति का संबंध अत्यंत गहन और बहुआयामी है। ऐतिहासिक कालखंडों से लेकर आधुनिक समय तक रंगों ने केवल सौंदर्य नहीं, बल्कि आध्यात्मिकता, सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक पहचान और व्यक्तिगत अनुभूति को भी अभिव्यक्त किया है। मुगल और अवध की दरबारी भव्यता, ब्रज की भक्ति–रसपूर्ण परंपरा, काशी की आध्यात्मिक गंभीरता और आधुनिक कला की प्रयोगशीलता–इन सभी में रंग एक जीवंत सांस्कृतिक भाषा के रूप में उपस्थित हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि उत्तर प्रदेश की चित्रकला में रंग केवल दृश्य माध्यम नहीं, बल्कि भाव, दर्शन और समाज के अंतर्संबंधों का सशक्त प्रतीक हैं, जो समय के साथ निरंतर विकसित होते हुए कला को जीवंत बनाए रखते हैं।[9]

संदर्भ–ग्रन्थ

1. शुक्ल, रामचंद्र. भारतीय कला का इतिहास. नई दिल्ली– साहित्य भवन
2. कूमारस्वामी, ए. के. कला में प्रकृति का रूपांतरण.
3. क्रामरिश, स्टेला. भारतीय कला का इतिहास. लंदन
4. Brown, Percy. *Indian Painting*. Calcutta: Thacker & Co.
5. Archer, W. G. *Indian Paintings from the Punjab Hills*. London: Sotheby Parke Bernet.
6. Kramrisch, Stella. *The Art of India*. London: Phaidon Press.
7. Coomaraswamy, A. K. *The Dance of Shiva*. New York: Noonday Press.
8. Chakravarty, Anjan. *Indian Miniature Painting*. New Delhi: Lustre Press.
9. Singh, Kavita. *Real Birds in Imagined Gardens: Mughal Painting between Persia and Europe*. New Delhi: Penguin.

आजाद भारत में शिक्षा नीतियों का बदलता स्वरूप

कुलदीप*

प्रस्तावना-

भारतीय शिक्षा का बीजारोपण आज से लगभग 4000 वर्ष पूर्व हो गया था। प्राचीन भारत के विद्वान, संत इस बात से भली भांति अवगत थे कि शिक्षा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास, समाज की उन्नति और सभ्यता की प्रगति की आधारशिला है। उन्होंने शिक्षा की ऐसी प्रशंसनीय प्रणाली का प्रतिपादन किया जिसने न केवल भारतीय साहित्य को सुरक्षित रखा बल्कि भारत में आज भी प्रासंगिक है।

एफ0 डब्लू0थॉमस ने लिखा है-

"भारत में शिक्षा विदेशी पौधा नहीं है, संसार का कोई भी ऐसा देश नहीं है जहां ज्ञान के प्रति प्रेम का इतने प्राचीन समय में जन्म हुआ हो या जिसने इतना चिरस्थाई और शक्तिशाली प्रभाव डाला हो"। 15 अगस्त 1947 को अंग्रेजों की दास्ता से भारत मुक्त हुआ। मुक्त होते ही देश के सम्मुख बहुत सारी चुनौतियां थी। एक दम से भारत में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं शैक्षिक परिवर्तन हुए। मैकाले की शिक्षा पद्धति से भारत त्रस्त हो चुका था क्योंकि वह शिक्षा व्यवहारिक शिक्षा न देकर केवल बाबू की संख्या बढ़ा रही थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत सरकार ने इस देश की शिक्षा को सुनियोजित और संगठित करने का दृढ़ निश्चय किया। जिससे शिक्षा को एक नई दिशा मिल सके और वह भारतीयों में जन चेतना, अपने कर्तव्य एवं अधिकारों के प्रति सजग कर सके, क्योंकि अब यह शिक्षा की जिम्मेदारी थी कि वह भारत को आगे बढ़ाने में, विश्व में अपनी छाप छोड़ने और विकसित होने में अपना महत्वपूर्ण योगदान अदा कर सके।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968-

शिक्षा को जन आकांक्षाओं पर खरा उतरने, बदलते समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने, परंपरागत शिक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने, समाज में रूढ़िवादी एवं अंधविश्वासों की जड़ों को तोड़ने के उद्देश्य से भारत सरकार ने 1964 में शिक्षा आयोग की नियुक्ति की। आयोग परिणाम स्वरूप इस नतीजे पर पहुंचा कि भारतीयों को कुशलताओं, आकांक्षाओं, मान्यताओं को पूरा किया जाना संभव है। इस संदर्भ में आयोग ने लिखा है- **"अन्य साधन सहायता दे सकते हैं और वास्तव में कभी-कभी उनका अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव हो सकता है किंतु शिक्षा के राष्ट्रीय प्रणाली वह साधन है जो सब व्यक्तियों तक पहुंच सकती है ।"**

आयोग ने अपने प्रतिवेदन में शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली के विषय में जो विचार अंकित किया उनका संसद के सदस्यों, विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों, राज्यों के शिक्षा मंत्रियों और भारतीय विश्वविद्यालय के उपकुलपतियों ने कुछ संशोधन के पश्चात स्वीकार किया, इसी के आधार पर भारत सरकार ने शिक्षा की राष्ट्रीय नीति को सरकारी प्रस्ताव के रूप में 24 जुलाई 1968 को जारी किया। स्वतंत्र भारत की इस पहली शिक्षा नीति में 17 कार्यक्रमों को सम्मिलित किया गया है। इसके अंतर्गत शिक्षा के सभी महत्वपूर्ण पक्षों,सिद्धांतों, स्तरों एवं संरचना को स्थान दिया गया है और शिक्षा के आधारभूत लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को भी निर्धारित किया गया है जो निम्नलिखित है-

1- परीक्षा में सुधार।

2- खेलकूद की व्यवस्था।

3- कार्य अनुभव एवं राष्ट्रीय सेवा।

* राजकीय महाविद्यालय मोरी, उत्तरकाशी। ई–मेल– kuldeeplamba29@gmail.com

4- शैक्षिक अवसरों में समानता की स्थापना।
5- साक्षरता एवं वयस्क शिक्षा का प्रसार।
6- अल्प संख्यकों की शिक्षा व्यवस्था।
7- कृषि एवं उद्योगों के लिए शिक्षा का विकास।
8- विज्ञान एवं अनुसंधान की शिक्षा का समान स्तर।
9- अध्यापकों के वेतन, शिक्षा एवं पदस्थिति में सुधार।
10- सस्ती पाठ्य पुस्तकों के स्तर एवं उत्पादन में सुधार।
11- त्रिभाषा सूत्र एवं प्रादेशिक भाषाओं का विकास।
12- प्रतिभाशाली छात्रों की खोज एवं उनकी प्रतिभा का अधिकतम विकास।
13- अल्पकालिन शिक्षा एवं पत्राचार पाठ्यक्रमों की विशाल पैमाने पर व्यवस्था।
14- 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था।
15- माध्यमिक स्तर पर तकनीकी एवं व्यवसायिक शिक्षा की सुविधाओं का विस्तार।
16- उच्च शिक्षा के केंद्रों की सुविधाओं में विस्तार और स्नातकोत्तर पर अनुसंधान एवं पाठ्यक्रमों में सुधार।
17- शिक्षा की संरचना- 10 वर्ष की सामान्य शिक्षा, 2 वर्ष की उत्तर माध्यमिक शिक्षा एवं 3 वर्ष का प्रथम डिग्री कोर्स।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1979:

स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर 1977 तक केंद्र में कांग्रेस पार्टी की सरकार रही। जिस कारण देश के सभी क्षेत्रों में एक ही नीति के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था होती रही। सन् 1977 में केंद्र में जनता पार्टी ने देश की सत्ता संभाली। सरकार ने पर्याप्त विचार विमर्श के बाद 14 अप्रैल 1979 को राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा की। लेकिन यह शिक्षा नीति केवल कागजों पर सीमित रही क्योंकि पुनः 1980 में सत्ता परिवर्तन हुआ और केंद्र में एक बार फिर कांग्रेस पार्टी ने देश की बागडोर संभाली।

शिक्षा नीति के मूल तत्व

शिक्षा नीति की प्रस्तावना में कहा गया है कि शिक्षा की आदर्श प्रणाली को लोगों को यह जानने के लिए तत्पर बनाना चाहिए कि उनकी शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमताएं क्या है? और उनका अधिकतम विकास किस प्रकार किया जा सकता है?।आदर्श शिक्षा प्रणाली लोगों में सामाजिक तथा मानवीय मूल्यों के प्रति जागरूकता करके उनके उत्तम चरित्र का विकास करती है और समाज के उत्तरदाई सदस्यों के रूप में उन्हें उत्तम जीवन व्यतीत करना सिखाती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस शिक्षा नीति में सभी स्तरों पर शिक्षा की उन्नति एवं विकास के लिए व्यक्तिगत प्रयासों के सहयोग को प्राप्त करने का पूरा प्रयास किया गया। जनता सरकार की यह शिक्षा नीति बड़ी उपयोगी एवं व्यवहारिक लगती है जिसमें समाज की आवश्यकताओं और आदर्शों को मध्य नजर रखते हुए नीति का निर्माण किया गया है। भारत एक कृषि प्रधान और ग्राम प्रधान देश है। इसकी लगभग 80% जनसंख्या गांव में निवास करती है इसलिए इस नीति में कृषि शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान देना साथ ही कृषि को आधुनिकीकरण से जोड़कर एक सराहनीय प्रयास किया गया है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986

देश के गतिशील युवा प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी ने प्रधानमंत्री का पद संभालते ही देश को 21वीं सदी के लिए तैयार करने का आह्वान किया था। इनका मानना था कि देश को इसके लिए तभी तैयार किया जा सकता है जब देश की दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन करके एक ऐसी उपयोगी शिक्षा प्रणाली बनाई जाए जो उपयोगी हो, व्यावहारिक हो, सामाजिक हो, सामाजिक भावना से विकसित हो,सर्वांगीण विकास में सहायक हो

और रोजगार की प्राप्ति में सहायक हो। उन्होंने कहा कि शिक्षा की राष्ट्रीय नीति AC कमरों में ना बैठकर चंद बुद्धिजीवियों के द्वारा तैयार नहीं की जानी चाहिए। बल्कि इसके निर्माण में देश की पंचायत से लेकर संसद तक सभी लोकतांत्रिक संस्थाओं और समाज के प्रत्येक कोने तथा समाज के हर वर्ग से सहयोग प्राप्त किया जाना चाहि। परिणाम स्वरूप विद्यमान शिक्षा प्रणाली पर पुनर्विचार करने और उसे नया रूप देने की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण दस्तावेज **शिक्षा की चुनौती नीति संबंधी परिपेक्ष** भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा

19 अगस्त 1985 को देश की जनता के सामने प्रस्तुत किया गया। यह दस्तावेज शिक्षा नीति के लिए आधार पत्र था, जिससे भारत देश की जनता उस पर चिंतन एवं मनन कर सके और इस चिंतन एवं मनन से ऐसी राष्ट्रव्यापी शिक्षा नीति के निर्माण में सहायता मिले जो भविष्य की चुनौतियों का सामना कर सके और अपने कार्य क्षमता और गुणवत्ता में सुधार ला सके। इस राष्ट्रव्यापी विचार विमर्श में हजारों छात्रों, शिक्षकों, अभिभावकों, छात्र संगठनों, शिक्षक संघों,अभिभावक संघो,शिक्षण संस्थानों, विश्वविद्यालयों,पंचायत समितियों, जिला परिषदों, राज्य सरकार एवं केंद्रीय मंत्रियों ने भाग लिया। केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड और राष्ट्रीय विकास समिति जैसे प्रमुख संगठनों ने भी विचार विमर्श किया। भारत में शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा व्यापक और गहन विचार विमर्श पहले कभी नहीं हुआ। इसलिए इसको **जनसाधारण की नीति** कहा गया। भारत के लोकसभा में इसे 8 मई 1986 को तथा राज्यसभा में इसे 13 मई 1986 को स्वीकृति प्रदान की। अगस्त 1986 से इसे देशभर में लागू कर दिया गया।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति जिसे नई शिक्षा नीति 1986 भी कहा जाता है को 12 भागों में विभाजित किया गया है इन 12 भागों के निम्न बिंदुओं पर इस नीति को लिपिबद्ध किया गया है -

1. भूमिका।
2. शिक्षा का सार व उसकी भूमिका।
3. राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था।
4. समानता के लिए शिक्षा।
5. विभिन्न स्तरों पर शिक्षा का पुनर्गठन।
6. तकनीकी एवं शिक्षा प्रबंधन।
7. शिक्षा व्यवस्था को कारगर बनाना।
8. शिक्षा की विषय वस्तु और प्रक्रिया को नया मोड़ देना ।
9. शिक्षक ।
10. शिक्षा का प्रबंध।
11. संसाधन एवं समीक्षा ।
12. भविष्य।

स्वतंत्रता के बाद भारत में कई आयोग बने जिन्होंने अपनी संस्तुतियां प्रस्तुत की परंतु यह कभी एक निश्चित कार्य योजना के तहत देश में लागू नहीं हुई।अत: इनसे किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सका,लेकिन नई शिक्षा नीति एक विस्तृत कार्य योजना के साथ प्रस्तुत की गई है। इस नीति के संदर्भ में शिक्षा मंत्रालय का मानव संसाधन विकास मंत्रालय के रूप में पुनर्गठन एक महत्वपूर्ण कदम है। नई शिक्षा नीति में अनेक प्रावधान किए गए हैं जैसे:- सर्वसुलभ प्रारंभिक शिक्षा, रोजगार परक शिक्षा, मुक्त विश्वविद्यालय की स्थापना, विज्ञान एवं तकनीकी पर जोर, नवोदय विद्यालय की स्थापना, ग्रामीण विश्वविद्यालय पर बल, जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना एवं राष्ट्रीय कोर पाठ्यक्रम निर्माण आदि शिक्षा नीति के मुख्य पहलू हैं।

नई शिक्षा नीति 2020

जब - जब समाज परिवर्तन के दौर से गुजरा है तब - तब शिक्षा ने बदलते हुए समाज में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। शिक्षा आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है। प्रत्येक समाज अपनी सामाजिक परंपराओं, खान-पान, भाषा शैली एवं संस्कृति को बचाए रखने के लिए शिक्षा का सहारा लेता है और शिक्षा भी समाज की उन चुनौतियों को दूर करने का भरसक प्रयास करती है। हम 21वीं सदी के मध्य हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लगातार तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है। इसलिए समय-समय पर शिक्षा में भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों के पार पाने के लिए 2020 की नई शिक्षा नीति की अहम भूमिका है। भारतीय शिक्षा के इतिहास में 2020 की नई शिक्षा नीति एक महत्वपूर्ण कदम है ।

भारत द्वारा 2015 में अपनाए गए सतत विकास एजेंडा 2030 के लक्ष्य 4 (एसडीजी 4) में परिलक्षित वैश्विक शिक्षा विकास एजेंडा के अनुसार विश्व में 2030 तक "सभी के लिए समावेशी और समान गुणवत्ता युक्त शिक्षा सुनिश्चित करने और जीवन पर्यंत शिक्षा के अवसरों को बढ़ावा दिए जाने" का लक्ष्य है। इस तरह के लक्ष्य के लिए संपूर्ण शिक्षा प्रणाली को समर्थन और अधिगम को बढ़ावा देने के लिए पुनर्गठित करने की आवश्यकता होगी।ताकि सतत विकास के लिए जो 2030 एजेंडा के सभी महत्वपूर्ण टारगेट और लक्ष्य (एसडीजी) प्राप्त किया जा सके।

2040 तक भारत के लिए एक ऐसी शिक्षा प्रणाली का लक्ष्य होना चाहिए जो किसी से पीछे नहीं है, एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था जहां किसी भी सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि से संबंध रखने वाले शिक्षार्थियों को समान रूप से सर्वोच्च गुणवत्ता की शिक्षा उपलब्ध हो। यह राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020,21वीं शताब्दी की पहली शिक्षा नीति है जिसका लक्ष्य हमारे देश के विकास के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करना है। यह नीति भारत की परंपरा और सांस्कृतिक मूल्यों के आधार को बरकरार रखते हुए 21वीं सदी की शिक्षा के लिए आकांक्षात्मक, लक्ष्यों, जिम एसडीजी4 शामिल हैं, के संयोजन में शिक्षा व्यवस्था उसके नियमन और गवर्नेंस सहित सभी पक्षों के सुधार और पुनर्गठन का प्रस्ताव रखती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति प्रत्येक व्यक्ति में निहित रचनात्मक क्षमताओं के विकास पर विशेष जोर देती है। यह नीति इस सिद्धांत पर आधारित है कि शिक्षा सेवा केवल साक्षरता और संख्या ज्ञान जैसी बुनियादी क्षमताओं के साथ-साथ उच्च स्तर की तार्किक और समस्या समाधान संबंधी संज्ञानात्मक क्षमताओं का विकास होना चाहिए बल्कि नैतिक सामाजिक और भावना तक स्तर पर भी व्यक्ति का विकास होना चाहिए।

नई शिक्षा नीति के सिद्धांत:

शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य अच्छे नैतिक विचारों और मूल्यों के साथ करुणा और सहानुभूति, साहस और लचीलापन, वैज्ञानिक स्वभाव और रचनात्मक कल्पना रखने वाले तर्कसंगत विचार और कार्यवाही में सक्षम अच्छे इंसानों का विकास करना है। इसका उद्देश्य हमारे संविधान द्वारा परिकल्पित एक समान समावेशी और बहुल समाज के निर्माण के लिए, लगे हुए उत्पादक और योगदान करने वाले नागरिकों का निर्माण करना है, एक अच्छा शिक्षण संस्थान वह होता है जिसमें प्रत्येक छात्र का स्वागत और देखभाल की जाती है, जहां एक सुरक्षित और उत्तेजक सीखने का माहौल मौजूद होता है, जहां सीखने के व्यापक अनुभव प्रदान किए जाते हैं, और जहां सभी छात्रों के लिए सीखने के लिए अनुकूल भौतिक बुनियादी ढांचा और उपयुक्त संसाधन उपलब्ध होते हैं। इन गुणों को प्राप्त करना प्रत्येक शिक्षण संस्थान का लक्ष्य होना चाहिए।

इस नीति का विजन:

यह राष्ट्रीय शिक्षा नीति भारतीय लोकाचार में निहित एक ऐसी शिक्षा प्रणाली की कल्पना करती है जो सभी को उच्च गुणवत्ता वाली शिक्षा प्रदान करके, और इस तरह भारत को एक वैश्विक ज्ञान महाशक्ति बनाकर भारत को एक समान और जीवंत ज्ञान समाज में बदलने में सीधा योगदान देती है। नीति में परिकल्पना की गई

है कि हमारे संस्थाओं के पाठ्यक्रम और शिक्षाशास्त्र को छात्रों के बीच मौलिक कर्तव्य और संवैधानिक मूल्यों के प्रति सम्मान की गहरी भावना विकसित करनी चाहिए। अपने देश के साथ संबंध और बदलती दुनिया में किसी की भूमिकाओं और जिम्मेदारियां के प्रति जागरूकता नीति का दृष्टिकोण, शिक्षार्थियों के बीच में केवल विचार में, बल्कि आत्मा, बुद्धि और कर्मों में भी भारतीय होने का गहरा गर्व पैदा करना है, साथी ज्ञान कौशल मूल्य और स्वभाव का विकास करना है,जो समर्थन करते हैं मानवाधिकारों का सतत विकास और रहन-सहन और वैश्विक भलाई का जिससे वास्तव में एक वैश्विक नागरिक प्रतिबिंबित होता है।

नई शिक्षा नीति 2020 के महत्वपूर्ण बिंदु:

भाग 1 स्कूल शिक्षा

1 - प्रारंभिक बाल्यावस्था देखभाल और शिक्षा: सीखने की नींव।

2- बुनियादी साक्षरता एवं संख्या ज्ञान: सीखने के लिय एक तात्कालिक आवश्यकता और पूर्वशर्त।

3- ड्राफ्टआउट बच्चों की संख्या कम करना और सभी स्तरों पर शिक्षा की सार्वभौमिक पहुंच निश्चित करना।

4- स्कूलों में पाठ्यक्रम और शिक्षणशास्त्र, अधिगम, समग्र,एकीकृत आनंददायी और रुचिकर होना चाहिए।

5- शिक्षक।

6- समता मूलक और समावेशी शिक्षा: सभी के लिए अधिगम।

7 स्कूल कांप्लेक्स/ क्लस्टर के माध्यम से कुशल संसाधन और प्रभावी गवर्नेंस।

8 स्कूली शिक्षा के लिए मानक निर्धारण और प्रत्यायन।

भाग 2 उच्चतर शिक्षा

9 गुणवत्तापूर्ण विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय: भारतीय उच्चतर शिक्षा व्यवस्था हेतु एक नया और भविष्यनुमुखी दृष्टिकोण।

10 संस्थागत पुनर्गठन और समेकन।

11 समग्र और बहुविषेक शिक्षा की ओर।

12 सीखने के लिए अनुकूलतम वातावरण व छात्रों को सहयोग।

13 प्रेरित सक्रिय और सक्षम संकाय।

14 उच्चतर शिक्षा में समता और समावेश।

15 शिक्षक शिक्षा।

16 व्यावसायिक शिक्षा का नवीन आकल्पन।

17 नवीन राष्ट्रीय अनुसंधान फाउंडेशन के माध्यम से सभी क्षेत्रों में गुणवत्तायुक्त अकादमिक अनुसंधान को उत्प्रेरित करना।

18 उच्चतर शिक्षा की नियामक प्रणाली में आमूल चूल परिवर्तन।

19 उच्चतर शिक्षा संस्थानों के लिए प्रभावी शासन और नेतृत्व।

भाग 3 अन्य केंद्रीय विचारणीय मुद्दे

20 व्यावसायिक शिक्षा।

21 प्रौढ़ शिक्षा और जीवनपर्यंत सीखना।

22 भारतीय भाषाओं, कला और संस्कृति का संवर्धन।

23 प्रौद्योगिकी का उपयोग एवं एकीकरण।

24 ऑनलाइन और डिजिटल शिक्षा: प्रौद्योगिकी का न्यायसम्मत उपयोग सुनिश्चित करना।

भाग 4 क्रियान्वयन की रणनीति

25 केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड का सशक्तिकरण।

26 वित्त पोषण: सभी के लिए वहनीय एवं गुणवत्तापूर्ण शिक्षा।
27 कार्यान्वयन।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1 डॉ0 रुचि हरीश आर्य - शिक्षा की नवीन प्रवृत्तियां एवं विविध आयाम, नील कमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2 पी0 डी 0 पाठक - भारतीय शिक्षा का इतिहास, अग्रवाल पब्लिकेशन ,आगरा।
3 भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं - पी0 डी0 पाठक, अग्रवाल पब्लिकेशन आगरा।
4 डॉ0 मीना - नए भारत की नींव राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 हंस शोध सुधा vol 1 issue 2021।
5 विद्यालय शिक्षा एवं शिक्षक एक समग्र दृष्टि - राजस्थान शिक्षक संघ।
6 राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार नई दिल्ली।
7 www drishtiias.com दृष्टि, the vision राष्ट्रीय शिक्षा नीति: महत्त्व व चुनौतियां, 31 जुलाई 2020।
8 भारत सरकार, 1986, नई शिक्षा नीति 2020, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली।
9 अकलांक कुमार जैन **-** राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020,
अकलंक पब्लिकेशन्स.
10 Quality of Education at the Begining of the 21st centuary Lessons from india: Indian Educational Reviev 2, Draft National Education Policy - 2019.
11 प्रकाश कुमार- 21वीं सदी की मांग पूरी करेगी नई शिक्षा नीति - आउटलुक हिंदी, 24 अगस्त 2020.
12 मसौदा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2019.
13 डॉ0 रामशक्ल पाण्डेय व गुरुसरनदास त्यागी- समसामायिक भारत और शिक्षा- विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
14 डॉ0 नीरा गौतम व डॉ0 अरुणा गुप्ता, समकालीन भारत एवं शिक्षा- ठाकुर पब्लिकेशन्स लखनऊ।

पंडित गेंदा लाल दीक्षित और उत्तर भारत में क्रांतिकारी चेतना का उदय

अभिषेक दौनेरिया*

सारांश

प्रस्तुत शोध आलेख भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के उन अनछुए पहलुओं पर प्रकाश डालता है, जिनका केंद्र उत्तर भारत और विशेषकर संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) रहा है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में क्रांतिकारी गतिविधियों के उदय और विकास में पंडित गेंदा लाल दीक्षित की भूमिका अत्यंत निर्णायक रही है। इस आलेख में मातृवेदी दल की स्थापना, चंबल के बीहड़ों में क्रांतिकारी संगठन का विस्तार और मैनपुरी षड्यंत्र के ऐतिहासिक महत्व का विश्लेषण किया गया है। शोध का मुख्य उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि किस प्रकार एक साधारण शिक्षक ने उत्तर भारत के बिखरे हुए युवाओं और सामाजिक रूप से उपेक्षित वर्गों को संगठित कर ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध एक सशस्त्र आधार तैयार किया। यह अध्ययन पंडित गेंदा लाल दीक्षित के उन दार्शनिक और रणनीतिक योगदानों को भी रेखांकित करता है, जिन्होंने आगे चलकर राम प्रसाद बिस्मिल और हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन जैसी संस्थाओं के लिए मार्ग प्रशस्त किया। निष्कर्षत:, यह लेख उत्तर भारत के क्रांतिकारी आंदोलन के जनक के रूप में दीक्षित जी के बलिदान और उनकी ऐतिहासिक विरासत का पुनर्मूल्यांकन करता है।

परिचय एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में उत्तर भारत की क्रांतिकारी गतिविधियों का एक विशिष्ट स्थान रहा है। जब हम बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों का अवलोकन करते हैं, तो पाते हैं कि बंगाल और महाराष्ट्र के बाद उत्तर प्रदेश (तत्कालीन संयुक्त प्रांत) क्रांतिकारी विचारों का एक बड़ा केंद्र बनकर उभरा था। इस वैचारिक क्रांति के बीज बोने वाले महानायकों में पंडित गेंदा लाल दीक्षित का नाम अग्रगण्य है। उन्हें प्रायः उत्तर भारत के क्रांतिकारियों का द्रोणाचार्य कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने ही राम प्रसाद बिस्मिल जैसे महान क्रांतिकारियों को दिशा दिखाई थी। गेंदा लाल दीक्षित का जन्म उत्तर प्रदेश के आगरा जिले की बाह तहसील के मई गाँव में हुआ था। एक साधारण शिक्षक के रूप में अपना जीवन आरंभ करने वाले दीक्षित जी के भीतर राष्ट्रभक्ति की ज्वाला बचपन से ही प्रज्वलित थी।

क्रांतिकारी गतिविधियाँ

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यंत जटिल और अस्थिर थी। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन अपनी दमनकारी नीतियों के माध्यम से भारतीय जनता पर कठोर नियंत्रण बनाए हुए था। अंग्रेजी शासन की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक नीतियों के कारण भारतीय समाज में असंतोष निरंतर बढ़ता जा रहा था। इसी असंतोष ने धीरे–धीरे राष्ट्रीय चेतना और स्वतंत्रता की आकांक्षा को जन्म दिया।

सन 1905 में हुए बंगाल विभाजन ने इस राष्ट्रीय चेतना को और अधिक तीव्र कर दिया। बंगाल विभाजन के विरोध में प्रारंभ हुआ स्वदेशी आंदोलन शीघ्र ही पूरे देश में फैल गया। इस आंदोलन ने भारतीय जनता को विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग के लिए प्रेरित किया। इसके साथ ही युवाओं के भीतर स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने की भावना भी प्रबल होने लगी। बंगाल और महाराष्ट्र जैसे क्षेत्रों में क्रांतिकारी गतिविधियों के तीव्र होने का प्रभाव उत्तर भारत के युवाओं पर भी स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा।

उत्तर भारत, विशेषकर तत्कालीन संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में भी राष्ट्रीय चेतना का विस्तार हो रहा था। यहाँ के शिक्षित युवाओं के साथ–साथ ग्रामीण क्षेत्रों के लोग भी अंग्रेजी शासन की अन्यायपूर्ण नीतियों से असंतुष्ट थे। इस परिस्थिति ने ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता उत्पन्न की जो इन बिखरे हुए असंतोषों को एक संगठित आंदोलन का रूप दे सके।

* नेट-इतिहास

इसी समय पंडित गेंदालाल दीक्षित का उदय एक ऐसे क्रांतिकारी नेता के रूप में हुआ, जिन्होंने न केवल स्वतंत्रता के विचार को अपनाया, बल्कि उसे संगठित रूप देने का भी प्रयास किया। वे केवल एक बौद्धिक विचारक या राष्ट्रवादी लेखक ही नहीं थे, बल्कि एक दूरदर्शी और कुशल संगठक भी थे। उन्होंने अनुभव किया कि जब तक युवाओं को संगठित कर एक सशक्त समूह के रूप में तैयार नहीं किया जाएगा, तब तक ब्रिटिश शासन को चुनौती देना संभव नहीं होगा।

दीक्षित जी ने यह भी समझा कि क्रांतिकारी आंदोलन के लिए केवल विचारधारा ही पर्याप्त नहीं होती, बल्कि इसके लिए साहस, अनुशासन और संगठनात्मक क्षमता भी आवश्यक होती है। इसलिए उन्होंने युवाओं के बीच राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने के साथ–साथ उन्हें व्यावहारिक रूप से संघर्ष के लिए तैयार करने का कार्य प्रारंभ किया।

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने "मातृवेदी" नामक एक गुप्त क्रांतिकारी संगठन की स्थापना की। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य युवाओं को संगठित करना, उनमें देशभक्ति की भावना को प्रबल करना तथा उन्हें स्वतंत्रता संग्राम के लिए तैयार करना था। मातृवेदी संस्था केवल एक गुप्त संगठन भर नहीं थी, बल्कि यह एक ऐसा मंच था जहाँ युवाओं को शस्त्र प्रशिक्षण के साथ–साथ बौद्धिक और नैतिक शिक्षा भी दी जाती थी।

इस संस्था के माध्यम से दीक्षित जी ने अनेक युवाओं को क्रांतिकारी विचारधारा से जोड़ा और उन्हें स्वतंत्रता संग्राम के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार मातृवेदी संगठन ने उत्तर भारत में क्रांतिकारी चेतना के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और आगे चलकर कई प्रसिद्ध क्रांतिकारियों के उदय का मार्ग भी प्रशस्त किया।

उत्तर भारत में क्रांतिकारी आंदोलन का विकास अन्य क्षेत्रों से भिन्न था। यहाँ की भौगोलिक स्थिति और चंबल के बीहड़ों ने क्रांतिकारियों को एक सुरक्षित शरण स्थली प्रदान की थी। पंडित गेंदा लाल दीक्षित ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय देते हुए चंबल के उन बागियों और डाकुओं से संपर्क किया, जो ब्रिटिश प्रशासन से प्रताड़ित थे। उन्होंने इन लोगों को समझाया कि उनका असली शत्रु अंग्रेज हैं, न कि साधारण जनता। उन्होंने डाकुओं के गिरोहों को एक अनुशासित सेना में बदलने का साहसिक कार्य किया। यह प्रयोग भारतीय क्रांतिकारी इतिहास में अपनी तरह का पहला और अनूठा प्रयास था। इस सेना को 'शिवाजी समिति' के नाम से भी जाना गया, जिसका मुख्य उद्देश्य देश की स्वतंत्रता के लिए धन और जनशक्ति जुटाना था।

दीक्षित जी के नेतृत्व में क्रांतिकारी आंदोलन ने एक नया मोड़ लिया। उन्होंने युवाओं को यह सिखाया कि देश सेवा के लिए त्याग और बलिदान सर्वोपरि है। उनके प्रयासों का ही परिणाम था कि उत्तर प्रदेश के विभिन्न जिलों जैसे आगरा, इटावा, मैनपुरी और शाहजहाँपुर में गुप्त समितियों का जाल बिछ गया। इन समितियों के माध्यम से क्रांतिकारी साहित्य का वितरण किया जाता था और युवाओं को बम बनाने तथा पिस्तौल चलाने का प्रशिक्षण दिया जाता था। उस कालखंड में सरकारी अधिकारियों में मातृवेदी दल का भय व्याप्त हो गया था।

मैनपुरी षड्यंत्र

पंडित गेंदा लाल दीक्षित के क्रांतिकारी जीवन का सबसे महत्वपूर्ण पड़ाव 'मैनपुरी षड्यंत्र' माना जाता है। इस घटना ने न केवल उत्तर भारत के क्रांतिकारियों को एक नई पहचान दी, बल्कि ब्रिटिश शासन की चूलें हिलाकर रख दीं। दीक्षित जी ने अनुभव किया था कि केवल आदर्शों से क्रांति संभव नहीं है, इसके लिए संसाधन और शस्त्रों की भारी आवश्यकता होती है। इसी उद्देश्य से उन्होंने उत्तर प्रदेश के विभिन्न जिलों के युवाओं को एकजुट करना शुरू किया। मैनपुरी इस आंदोलन का प्रमुख केंद्र बनकर उभरा क्योंकि यहाँ के युवा और किसान ब्रिटिश कर नीतियों से अत्यधिक त्रस्त थे। 'मातृवेदी' दल के बैनर तले दीक्षित जी ने एक ऐसी गुप्त सेना तैयार की थी, जिसमें न केवल शिक्षित युवक थे बल्कि समाज के वे उपेक्षित वर्ग भी शामिल थे जो प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों से लोहा लेना चाहते थे।

सन 1918 के आसपास, जब प्रथम विश्व युद्ध की परिस्थितियाँ भारत को प्रभावित कर रही थीं, पंडित गेंदा लाल दीक्षित ने सरकारी खजानों और रसद को निशाना बनाने की योजना बनाई। उनका मानना था कि विदेशी सत्ता के संसाधनों का उपयोग उन्हीं के विरुद्ध करना न्यायसंगत है। इसी दौरान 'मातृवेदी' दल के सदस्यों ने मैनपुरी और आसपास के क्षेत्रों में क्रांतिकारी पर्चे बांटे और जनता को जगाने का कार्य किया। हालांकि, किसी भी गुप्त संगठन की सबसे बड़ी चुनौती भीतरघात होती है। दल के ही एक सदस्य की मुखबिरी के कारण पुलिस को इस गुप्त योजना की भनक लग गई। इसके बाद जो धर–पकड़ शुरू हुई, उसे

ही इतिहास में 'मैनपुरी षड्यंत्र केस' के नाम से जाना जाता है। इस मामले में दीक्षित जी के साथ भारी संख्या में युवाओं को गिरफ्तार किया गया, जिनमें प्रसिद्ध क्रांतिकारी राम प्रसाद बिस्मिल का नाम भी उभरकर सामने आया।

संघर्ष की स्थितियाँ

ग्वालियर के किले में कैद के दौरान पंडित गेंदा लाल दीक्षित ने अपनी अद्भुत बुद्धिमत्ता और साहस का परिचय दिया। जेल की यातनाएँ उन्हें डिगा नहीं सकीं। उन्होंने जेल के भीतर ही अपने साथियों के साथ भागने की गुप्त योजना बनाई। उनकी योजना इतनी सटीक थी कि वे पुलिस को चकमा देकर जेल की दीवारों को लांघने में सफल रहे। जेल से भागने के बाद उन्होंने फिर से क्रांतिकारी गतिविधियों को संगठित करने का प्रयास किया, लेकिन उस समय तक ब्रिटिश पुलिस ने उनके पीछे इनाम घोषित कर दिया था और पूरे क्षेत्र में उनकी तलाश तेज कर दी थी। विपरीत परिस्थितियों के बावजूद दीक्षित जी ने हार नहीं मानी और चंबल के बीहड़ों को अपना ठिकाना बनाया।

उत्तर भारत में क्रांतिकारी आंदोलन के इस चरण ने एक बात स्पष्ट कर दी थी कि भारतीय युवा अब अहिंसक विरोध के साथ–साथ सशस्त्र क्रांति के लिए भी पूरी तरह तैयार हैं। पंडित गेंदा लाल दीक्षित का योगदान केवल एक घटना तक सीमित नहीं था, बल्कि उन्होंने 'क्रांतिकारी दीक्षा' की एक नई परंपरा शुरू की थी। उनके द्वारा तैयार किए गए क्रांतिकारी ही आगे चलकर 'हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' के आधार स्तंभ बने। इस संगठन ने बाद में काकोरी कांड जैसी ऐतिहासिक घटनाओं को अंजाम दिया। दीक्षित जी का व्यक्तित्व एक ऐसे शिक्षक का था, जिसने अपनी कलम और वाणी के साथ–साथ शस्त्रों के महत्व को भी समझा और आने वाली पीढ़ी को यह सिखाया कि राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए कोई भी बलिदान छोटा नहीं होता।

क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास में पंडित गेंदा लाल दीक्षित केवल एक योद्धा नहीं, बल्कि एक उच्च कोटि के रणनीतिकार और शिक्षक भी थे। उनका मानना था कि विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए केवल साहस पर्याप्त नहीं है, बल्कि एक सुदृढ़ सांगठनिक संरचना और स्पष्ट विचारधारा का होना अनिवार्य है। उत्तर भारत के मैदानी इलाकों में, जहाँ ब्रिटिश पुलिस की पकड़ अत्यंत मजबूत थी, वहाँ गुप्त रूप से युवाओं को संगठित करना किसी चमत्कार से कम नहीं था। दीक्षित जी ने 'मातृवेदी' दल के माध्यम से जो वैचारिक आधार तैयार किया, उसका मुख्य सूत्र था 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और इसे प्राप्त करने के लिए आत्मबल की आवश्यकता है।'

उन्होंने उत्तर प्रदेश के ग्रामीण अंचलों में घूम–घूमकर किसानों और युवाओं को यह समझाया कि गुलामी केवल शारीरिक नहीं, बल्कि मानसिक भी होती है। उनके भाषणों और गुप्त बैठकों का प्रभाव यह हुआ कि शाहजहाँपुर, मैनपुरी, इटावा और आगरा जैसे जिले क्रांतिकारी गतिविधियों के अभेद्य दुर्ग बन गए। गेंदा लाल दीक्षित की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे जाति और वर्ग के भेदों से ऊपर उठकर राष्ट्रवाद की बात करते थे। उन्होंने समाज के उन वर्गों को भी मुख्यधारा में लाने का प्रयास किया जिन्हें सामान्यतः अपराधी माना जाता था। उनके इसी प्रयास ने उत्तर भारत में क्रांतिकारी आंदोलन को एक जन–आंदोलन का स्वरूप प्रदान करना शुरू किया।

दीक्षित जी के व्यक्तित्व का सबसे अमिट प्रभाव महान क्रांतिकारी राम प्रसाद बिस्मिल पर पड़ा। बिस्मिल उन्हें अपना मार्गदर्शक और गुरु मानते थे। मैनपुरी कांड के दौरान और उसके बाद, दीक्षित जी ने बिस्मिल को जो शिक्षाएं दीं, वही आगे चलकर 'हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' के सिद्धांतों का आधार बनीं। वे अक्सर कहते थे कि स्वतंत्रता का मार्ग काँटों भरा है, और इसके लिए अपने व्यक्तिगत सुखों का पूर्ण त्याग करना होगा। उनके इसी त्यागपूर्ण जीवन ने चंद्रशेखर आजाद और अशफाक उल्ला खाँ जैसे युवाओं के लिए प्रेरणा का स्रोत विकसित किया।

उत्तर भारत में क्रांतिकारी आंदोलन का यह विकास केवल हथियारों तक सीमित नहीं था। दीक्षित जी ने साहित्य के महत्व को भी समझा था। वे जानते थे कि जब तक जनता के हृदय में अपनी संस्कृति और इतिहास के प्रति गर्व का भाव नहीं जागेगा, तब तक वे क्रांति के लिए प्रेरित नहीं होंगे। उन्होंने गुप्त रूप से देशभक्तिपूर्ण कविताओं और लेखों का प्रसार किया, जिससे युवाओं के भीतर एक नई चेतना का संचार हुआ। हालांकि, लगातार पुलिस की निगरानी और जेल की कठोर यातनाओं ने उनके स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव डाला था। 1920 के दशक के आरंभिक वर्षों में, जब असहयोग आंदोलन की लहर चल रही थी, तब भी दीक्षित जी के द्वारा बोए गए क्रांतिकारी बीज भूमिगत रहकर अपना काम कर रहे थे।

उनकी विचारधारा का एक महत्वपूर्ण स्तंभ 'स्वदेशी' भी था। वे क्रांतिकारियों को आर्थिक रूप से स्वावलंबी बनाने पर जोर देते थे ताकि वे विदेशी मदद पर निर्भर न रहें। पंडित गेंदा लाल दीक्षित का यह दर्शन उत्तर भारत के उन तमाम युवाओं के लिए एक मशाल बन गया, जिन्होंने आगे चलकर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में स्वर्णिम अध्याय लिखे।

मैनपुरी षड्यंत्र और ग्वालियर के किले से पलायन के बाद, पंडित गेंदा लाल दीक्षित का जीवन निरंतर संघर्ष और अभावों में बीता। एक समय ऐसा था जब उनके पास न रहने का ठिकाना था और न ही दो समय का भोजन, परंतु उनके भीतर की राष्ट्रभक्ति की ज्वाला तनिक भी मंद नहीं पड़ी। वे चंबल के बीहड़ों से लेकर दिल्ली और पंजाब तक क्रांतिकारियों को संगठित करने के लिए भटकते रहे। इस दौरान उन्होंने अपना नाम और वेश बदलकर पुलिस को लंबे समय तक छकाया। निरंतर भागदौड़ और जेल की अमानवीय यातनाओं ने उनके शरीर को भीतर से खोखला कर दिया था। उन्हें क्षय रोग (टीबी) ने घेर लिया था, जो उस समय एक जानलेवा बीमारी मानी जाती थी।

अत्यंत दयनीय स्थिति में होने के बावजूद, उन्होंने अपने किसी भी साथी का नाम पुलिस को नहीं बताया और न ही कभी ब्रिटिश सत्ता के सामने घुटने टेके। उनके जीवन के अंतिम दिन दिल्ली के एक अस्पताल में अत्यंत गुमनामी में बीते। जब 21 दिसंबर 1920 को इस महान क्रांतिकारी ने अंतिम सांस ली, तो उनके पास कोई अपना संबंधी नहीं था। एक ऐसा व्यक्ति जिसने हजारों युवाओं को देश के लिए मर–मिटने की प्रेरणा दी, वह स्वयं नितांत अकेला इस संसार से विदा हो गया। किंतु उनका बलिदान व्यर्थ नहीं गया। उनकी मृत्यु के बाद उत्तर भारत में क्रांतिकारी आंदोलन ने एक नई करवट ली।

राम प्रसाद बिस्मिल, जो दीक्षित जी को अपना गुरु मानते थे, उन्होंने उनके अधूरे कार्यों को आगे बढ़ाया। 'हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' का गठन और उसकी कार्यप्रणाली पूरी तरह से दीक्षित जी के 'मातृवेदी' दल के अनुभवों पर आधारित थी। उत्तर भारत के क्रांतिकारियों ने दीक्षित जी से ही यह सीखा था कि संगठन को कैसे गुप्त रखा जाए और कैसे सीमित संसाधनों में एक शक्तिशाली साम्राज्य से लोहा लिया जाए। उनका प्रभाव केवल उत्तर प्रदेश तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उनके द्वारा तैयार किए गए नेटवर्क ने पंजाब और बंगाल के क्रांतिकारियों के बीच एक सेतु का कार्य किया।

पंडित गेंदा लाल दीक्षित की विरासत का मूल्यांकन करते समय हमें यह समझना होगा कि वे केवल एक विद्रोही नहीं थे, बल्कि वे एक सामाजिक सुधारक भी थे। उन्होंने चंबल के बागियों को 'क्रांतिकारी' बनाकर यह सिद्ध किया कि यदि सही दिशा दी जाए, तो समाज का हर वर्ग राष्ट्र निर्माण में योगदान दे सकता है। उनके द्वारा स्थापित आदर्शों ने चंद्रशेखर आजाद जैसे युवाओं को वह नैतिक बल प्रदान किया, जिससे वे 'आजाद' रहकर ही शहीद हुए।

आज के इतिहास में भले ही उन्हें वह स्थान न मिला हो जिसके वे हकदार थे, परंतु उत्तर भारत के जनमानस और क्रांतिकारी साहित्य में पंडित गेंदा लाल दीक्षित एक अमर नक्षत्र की तरह चमकते रहेंगे। उनका जीवन यह संदेश देता है कि क्रांति केवल हथियारों से नहीं, बल्कि अडिग संकल्प और निस्वार्थ त्याग से सफल होती है। 2500 शब्दों के इस व्यापक शोध का निष्कर्ष यही है कि उत्तर भारत में सशस्त्र क्रांति की जो इमारत खड़ी हुई, उसकी सबसे मजबूत नींव पंडित गेंदा लाल दीक्षित ने ही रखी थी।

निष्कर्ष और ऐतिहासिक मूल्यांकन

पंडित गेंदा लाल दीक्षित का जीवन और उनके द्वारा संचालित 'मातृवेदी' दल का इतिहास इस तथ्य का प्रमाण है कि क्रांति केवल महानगरों या शिक्षित वर्ग तक सीमित नहीं थी, बल्कि इसका प्रसार उत्तर भारत के सुदूर गाँवों और बीहड़ों तक हो चुका था। दीक्षित जी ने एक ऐसे समय में सशस्त्र विद्रोह का बिगुल फूँका जब ब्रिटिश सत्ता अपने दमन चक्र के चरम पर थी। उनका सबसे बड़ा योगदान यह था कि उन्होंने क्रांतिकारी आंदोलन को एक 'संगठनात्मक ढांचा' प्रदान किया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि यदि नेतृत्व में ईमानदारी और दूरदर्शिता हो, तो समाज के सबसे निचले और उपेक्षित वर्गों को भी राष्ट्र की मुख्यधारा से जोड़ा जा सकता है।

उत्तर भारत में क्रांतिकारी आंदोलन के विकास को यदि हम एक वृक्ष के रूप में देखें, तो पंडित गेंदा लाल दीक्षित उस वृक्ष की जड़ थे। उनके द्वारा तैयार किए गए क्रांतिकारी शिष्यों ने ही आगे चलकर काकोरी, साण्डर्स वध और असेंबली बम कांड जैसी ऐतिहासिक घटनाओं को अंजाम दिया। उनके सिद्धांतों ने न केवल तत्कालीन युवाओं को प्रेरित किया, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए भी राष्ट्रवाद का एक मानक स्थापित किया। यद्यपि इतिहास के पन्नों में उन्हें वह ख्याति प्राप्त नहीं हुई जो अन्य समकालीन नायकों को मिली,

किंतु उत्तर भारत की क्रांतिकारी चेतना के वे वास्तविक जनक थे। उनका निस्वार्थ बलिदान और गुमनामी में देह त्याग करना यह दर्शाता है कि उनके लिए 'स्वराज्य' किसी पद या प्रतिष्ठा से कहीं अधिक बड़ा उद्देश्य था।

अंततः, पंडित गेंदा लाल दीक्षित का व्यक्तित्व एक शिक्षक, एक योद्धा और एक महान रणनीतिकार का अद्भुत मिश्रण था। उनके बिना उत्तर भारत के क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास सदैव अधूरा रहेगा। उनका जीवन आज भी शोधार्थियों और राष्ट्रप्रेमियों के लिए एक मार्गदर्शक स्तंभ की भाँति है, जो हमें सिखाता है कि कठिनतम परिस्थितियों में भी अपने संकल्प से विचलित नहीं होना चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ

विद्यानिवास शर्मा (1998), उत्तर प्रदेश के क्रांतिकारी पंडित गेंदा लाल दीक्षित, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश शासन।
(यह पुस्तक पूर्णतः दीक्षित जी के जीवन और उनके संगठन पर ही आधारित है।)
राम प्रसाद बिस्मिल (2007), बिस्मिल की आत्मकथा, राजपाल एंड संस, दिल्ली।
(इसमें दीक्षित जी के 'शिवाजी समिति' बनाने, डाकुओं को सुधारने और जेल से भागने का सबसे प्रामाणिक आँखों देखा विवरण है।)
सव्यसाची (1970), आधुनिक भारत के महान क्रांतिकारी गेंदा लाल दीक्षित, अभिनव प्रकाशन, मेरठ। (इस ग्रंथ में दीक्षित जी की रणनीतियों और उनके गुप्त ठिकानों का वर्णन है।)
विश्वनाथ तिवारी (1985), भारतीय स्वाधीनता संग्राम और मैनपुरी षड्यंत्र, इतिहास विभाग, आगरा विश्वविद्यालय।
(यह मैनपुरी केस के कानूनी और क्रांतिकारी पक्षों का मुख्य स्रोत है।)
भगवान सिंह (1995), चंबल के शहीद पंडित गेंदा लाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
(इसमें विशेष रूप से बीहड़ में उनके द्वारा किए गए कार्यों का विवरण मिलता है।)
आर.पी. बंसल (1988), क्रांतिकारी आंदोलन और मातृवेदी दल, किताब महल, दिल्ली।(यह पुस्तक 'मातृवेदी' दल के गठन और उसके सदस्यों के बारे में सबसे अधिक जानकारी देती है।)
राजकीय अभिलेख सेडिशन कमेटी रिपोर्ट (1918), भारत सरकार।
(इसमें ब्रिटिश सरकार द्वारा दीक्षित जी की गतिविधियों को खतरनाक मानते हुए दर्ज की गई टिप्पणियां हैं।)

◀◀ ▶▶

मनुष्यता का जयघोष : हजारीप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा दृष्टि

अश्वनी कुमार मिश्र*

शोध सार :

आचार्य द्विवेदी की समीक्षा का एक विशिष्ट प्रतिमान उनका इतिहास बोध है, जो किसी भी युग की रचना को केवल तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम मानकर नहीं देखता, बल्कि उसे एक अविच्छिन्न परंपरा के प्रवाह के रूप में समझता है। जहाँ रामचंद्र शुक्ल ने भक्ति आंदोलन को पराजित हिंदू जाति की 'निराशा' का परिणाम माना था, वहीं हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे भारतीय लोक-चिंता का 'स्वाभाविक विकास' सिद्ध किया। यह केवल एक ऐतिहासिक संशोधन नहीं था, बल्कि हिंदी समीक्षा में 'लोक' को उसके वास्तविक गौरव के साथ प्रतिष्ठित करने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था।

द्विवेदी जी की समीक्षा पद्धति में 'शास्त्रीयता' और 'लोक' के बीच निरंतर संवाद दिखाई देता है। वे मानते हैं कि जब शास्त्र जड़ हो जाता है, तब 'लोक' ही वह संजीवनी शक्ति बनता है जो संस्कृति को पुनर्जीवित करता है। इसी कारण उनकी आलोचना में कबीर के 'फक्कड़पन' और सूरदास की 'सहजता' को शास्त्रीय अलंकारों से भी अधिक महत्त्व दिया गया है। उनके अनुसार समीक्षा का कार्य केवल दोषों की खोज करना नहीं है, बल्कि उस 'जिजीविषा' की पहचान करना है जो मनुष्य को अभावों और संघर्षों के बीच भी ऊर्ध्वगामी बनाती है।

द्विवेदी जी के समीक्षा प्रतिमान हमें यह शिक्षा देते हैं कि आलोचना का अंतिम उद्देश्य 'परदुःखकातरता' अर्थात् दूसरों के दुःख के प्रति संवेदनशीलता का विस्तार करना है। इक्कीसवीं सदी के वर्तमान समय में, जब जीवन-मूल्य बिखरते हुए दिखाई देते हैं, तब द्विवेदी जी का यह मानवतावादी प्रतिमान कि "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है" आज भी हिंदी आलोचना के लिए ध्रुवतारे की भाँति मार्गदर्शन करता है।

बीज शब्द : हिंदी समीक्षा के प्रतिमान, मानवतावाद, इतिहास-बोध, लोक-संवेदना, सांस्कृतिक पुनर्संरचना, अविच्छिन्न परंपरा, परदुःखकातरता

प्रस्तावना

हिंदी समीक्षा के इतिहास में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आविर्भाव एक ऐसी युगांतकारी घटना है, जिसने आलोचना के प्रतिमानों को 'शास्त्रीय जड़ता' से मुक्त कर 'लोक-जीवन' की व्यापकता से जोड़ दिया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जहाँ हिंदी समीक्षा को एक व्यवस्थित ऐतिहासिक और नैतिक आधार प्रदान किया, वहीं द्विवेदी जी ने उसमें मानवतावादी दृष्टि और सांस्कृतिक निरंतरता का संचार किया। प्रस्तुत शोध पत्र का मूल उद्देश्य द्विवेदी जी की उन समीक्षा दृष्टियों का विश्लेषण करना है, जिनके केंद्र में 'मनुष्य' और उसकी 'अविच्छिन्न परंपरा' विद्यमान है। द्विवेदी जी के लिए समीक्षा केवल काव्य-लक्षणों या गुण-दोषों का विवेचन नहीं है, बल्कि वह उस 'जीजीविषा' की खोज है जो भारतीय समाज को युगों से ऊर्जा प्रदान कर रही है। उनके ऐतिहासिक व्याख्याता स्वरूप ने भक्ति आंदोलन और कबीर जैसे विस्मृत प्रसंगों को नई पहचान दी। यह आलेख द्विवेदी जी के समीक्षात्मक प्रतिमानों जैसे इतिहास-बोध, लोक-संवेदयता और परदुःखकातरता आदि के माध्यम से उनके व्यापक मनुष्यता की चिंता और आधुनिक प्रासंगिकता को रेखांकित करने का एक विनम्र प्रयास है।

हिंदी शब्दसागर के अनुसार समीक्षा शब्द का अर्थ है "

* शोधार्थी, हिंदी विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
neet015bhu@gmail.com, 8601728724

१. अच्छी तरह देखने की क्रिया । २. देखने की आकांक्षा । दिदृक्षा (को०)। ३. दृष्टि । चितवन। निगाह। नजर (को०)। ४. आलोचना । समालोचना। ५. प्रज्ञा। बुद्धि। मति । ६. यत्न । कोशिश । ७. विचार । संमति। राय (को०) । ८. अनुसंधान । अन्वेषण (को०) । ९. आत्मविद्या । आत्मा संबधी ज्ञान (को०) । १०. सत्य का आधारभूत या मौलिक रूप (को०) । ११. मूलभूत सिद्धांत (को०) । १२. मीमांसा शास्त्र । १३. सांख्य में बतलाए हुए पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार आदि तत्व ।" 1 वहीं, प्रतिमान का अर्थ है "संज्ञा पुं० [सं०]१. प्रतिबिंब । परछाँही। २. हाथी का मस्तक । हाथी के दोनों बड़े दाँतों के बीच का स्थान। ३. समानता। बराबरी । ४. दृष्टांत । उदाहरण । ५. प्रतिनिधि । ६. बटखरा। मान । बाट (को०) । ७. विरोधी । शत्रु । दुश्मन (को०) । ८. चित्र। अनुकृति । मूर्ति । प्रतिमा (को०) ।"2 इस तरह, हिंदी समीक्षा प्रतिमान' का अर्थ है, साहित्य या किसी विषय को गहराई से परखने (समीक्षा) के वे मानक, आदर्श या कसौटियाँ (प्रतिमान), जिनके आधार पर उसका मूल्यांकन और विश्लेषण किया जाता है।

'व्योमकेश दरवेश' किताब की शुरुआत ही विश्वनाथ त्रिपाठी भूमिका की इस पंक्ति के साथ करते हैं -

"बलरामपुर, जिला-गोंडा, डी.ए.वी. हाई स्कूल के अध्यापक पं. शिवशरण पांड ने दर्जा 8 की क्लास में कहा- "बच्चा! आजकल हिन्दी में एक विद्वान् बहुत आगे जा रहा है-रामचन्द्र सुक्ल के टक्कर का। उसका नाम हजारीप्रसाद द्विवेदी है। कबीर पर काम किया है। गुरुदेब के सान्तिनिकेतन का है।"[3]

वस्तुतः रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी समीक्षा को पहली बार शक्ति प्रदान किया, उसे ठीक - ठाक आकार दिया, जिससे वो पटल पर दिखना शुरू हुआ, उस समीक्षा को द्विवेदी जी और आगे बढ़ने का काम किए।

हिंदी समीक्षा की विकास यात्रा में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का आगमन एक युगांतकारी घटना मानी जाती है। हिंदी आलोचना की परंपरा को यदि हम देखें, तो भारतेंदु युग से शुरू होकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक आते-आते यह एक सुदृढ़ शास्त्रीय और ऐतिहासिक आधार पा चुकी थी। जहाँ शुक्ल जी ने मर्यादा और नैतिकता को प्रतिमान बनाया, वहीं द्विवेदी जी ने मानवतावाद को आलोचना के केंद्र में स्थापित किया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिंदी समीक्षा के विकास में द्विवेदी जी सबसे प्रबल और महत्वपूर्ण कड़ी हैं। उन्होंने साहित्य को केवल ग्रंथों या लेखकों की सूची के रूप में नहीं, बल्कि "जीवंत समाज की विकास कथा" के रूप में देखा। उनकी सबसे बड़ी मौलिकता यह थी कि उन्होंने शुक्ल जी की स्थापनाओं को चुनौती देते हुए उन विस्मृत कड़ियों को जोड़ा, जिन्हें पहले उपेक्षित कर दिया गया था। उदाहरणस्वरूप, उन्होंने नाथ-सिद्ध और जैन साहित्य को हिंदी की अमूल्य निधि मानकर उसकी साहित्यिक महत्ता को प्रतिपादित किया।

द्विवेदी जी की समीक्षा दृष्टि वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय है। उन्होंने भक्ति आंदोलन को 'इस्लाम की प्रतिक्रिया' मानने के बजाय भारतीय चिंताधारा का स्वाभाविक विकास बताया।

द्विवेदी जी ने 'साहित्य का लक्ष्य मनुष्य' को माना और यह सिद्ध किया कि कोई भी रचना तभी श्रेष्ठ है जब वह मानवता के कल्याण में सहायक हो। उन्होंने अपनी उदार और मानवतावादी दृष्टि से हिंदी समीक्षा को संकीर्णता से मुक्त कर एक व्यापक और वैश्विक धरातल प्रदान किया। उनके इसी अतुलनीय योगदान के कारण वे हिंदी साहित्य के इतिहास के सबसे बड़े 'ऐतिहासिक व्याख्याता' के रूप में निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित हैं। उनका प्रसिद्ध निबंध "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है" को उनके साहित्य संसार का प्रस्तावना समझा जा सकता है,निबंध का शुरुआत ही इन पंक्तियों से करते हैं "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदु:ख कातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"[4]

वहीं, निबंध का अंत कबीर की पंक्ति के साथ करते हैं।"सारा देश आपका है। भेद और विरोध ऊपरी हैं। भीतरी मनुष्य एक हैं। इस एक को दृढ़ता के साथ पहचानने का यत्न कीजिए। जो लोग भेद-भाव को

पकड़कर ही अपना रास्ता निकालना चाहते हैं, वे ग़लती करते हैं। विरोधी रहे हैं तो उन्हें आगे भी बने ही रहना चाहिए, यह कोई काम की बात नहीं हुई। हमें नए सिरे से सब कुछ गढ़ना है; तोड़ना नहीं है, टूटे को जोड़ना है। भेद-भाव की जयमाला से हम पार नहीं उतर सकते। कबीर ने हैरान होकर कहा था–

कबीर इस संसार को समझाऊँ कैं बार।
पूंछ जु पकड़ें भेद का, उतरा चाहै पार॥

मनुष्य एक है। उसके सुख-दुःख को समझना, उसे मनुष्यता के पवित्र आसन पर बैठाना ही हमारा कर्तव्य है।"[5]

आचार्य द्विवेदी की समीक्षा का मूल प्रतिमान 'मनुष्यता' है। उन्होंने साहित्य को संकीर्ण सांप्रदायिक या शास्त्रीय बंधनों से मुक्त कर उसे भारतीय लोक-चित्त के सातत्य में देखा। उनके लिए आलोचना केवल गुण-दोष विवेचन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनरुत्थान और मानवीय जिजीविषा की खोज है, जो परम्परा को आधुनिकता से जोड़ती है।"द्विवेदी जी को परम्परा का अप्रतिम व्याख्याता माना जाता रहा है। उनका लेखन परम्परा और आधुनिकता का सेतु था। उनके चिन्तन और लेखन में कुछ ऐसा रहा है जो इस दृष्टि से उन्हें विशिष्ट बनाता है।"[6]

द्विवेदी जी की समीक्षा पद्धति केवल साहित्यिक विवेचन नहीं, बल्कि 'सांस्कृतिक पुनर्संरचना' की प्रक्रिया है। उन्होंने परंपरा के उन तत्वों को छाँटकर अलग किया जो विकास में बाधक थे और उन्हें अपनाया जो आधुनिक मनुष्य को गरिमा प्रदान करते हैं। उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ समीक्षा वही है, जो जड़ शास्त्र के बजाय बहती हुई लोक-संवेदना को प्राथमिकता दे और साहित्य को अंततः 'मनुष्य की मुक्ति' का साधन बनाए।

"परम्परा के साथ जोड़ के तोड़ में 'आधुनिकता' रखी जाती है। द्विवेदी जी का एक निबन्ध है- 'आधुनिकता के सन्दर्भ में उपासना का स्वरूप' विरोधाभासी शीर्षक है। उपासना तो प्राचीनता-बोध का पद है। द्विवेदी जी उसकी खोज आधुनिकता में करते हैं। उनके यहाँ परम्परा और आधुनिकता परस्पर विरोधी नहीं, परस्पर पूरक हैं। उनकी यह प्रवृत्ति-चिन्तन, अध्यापन और निर्देशन में भी थी। शिष्यों से कहते-प्राचीन को समझे बिना नए को कैसे जानोगे और नए को जाने बिना प्राचीन को कैसे समझोगे।परम्परा और आधुनिकता एक प्रवाह में हैं।"[7]

साहित्य में आलोचना और समीक्षा की परंपरा को समृद्ध करने में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के योगदान को आज 21वीं शताब्दी में भी हम समझ सकते हैं। वे केवल निबंधकार ही नहीं, बल्कि एक गंभीर चिंतक, इतिहासदृष्टा और सांस्कृतिक व्याख्याकार भी थे। उनकी समीक्षा दृष्टि भारतीय संस्कृति, इतिहास और साहित्य की गहरी समझ पर आधारित थी। इसी कारण उनकी आलोचना केवल साहित्यिक मूल्यांकन तक सीमित नहीं रहती, बल्कि उसमें सांस्कृतिक और मानवीय मूल्यों की व्यापक दृष्टि भी दिखाई देती है।

द्विवेदी जी के आलोचनात्मक प्रतिमानों का मूल आधार भारतीय सांस्कृतिक परंपरा है। उन्होंने साहित्य को समाज और संस्कृति से अलग करके नहीं देखा, बल्कि उसे भारतीय जीवन के व्यापक संदर्भों से जोड़कर समझने का प्रयास किया। उनके अनुसार साहित्य केवल सौंदर्यबोध का माध्यम नहीं, बल्कि जीवन की गहरी अनुभूतियों और मानवीय मूल्यों की अभिव्यक्ति भी है। इसलिए उनकी आलोचना में ऐतिहासिकता, सांस्कृतिक चेतना और मानवीय दृष्टि का संतुलित समन्वय दिखाई देता है।

जिस कबीर के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा था"ज्ञान मार्ग की बातें कबीर ने हिन्दू साधु, सन्यासियों से ग्रहण की जिनमें सूफियों के सत्संग से उन्होंने 'प्रेमतत्त्व' का मिश्रण किया और अपना एक अलग पथ चलाया। उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करने वाले और कर्मकांड को प्रधानता देने वाले पंडितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने खरी-खरी सुनायी और राम-रहीम की एकता समझ कर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने की उपदेश दिया। देशाचार और उपासनाविधि के कारण मनुष्य-मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयास उनकी वाणी बराबर करती रही। यद्यपि वे पढे-लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर

थी जिससे मुँह से बड़ी और य-चमत्कार-पूर्ण बातें निकलती थीं। इनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था।"[8]

उन्हें हिंदी साहित्य के इतिहास में उनका सही स्थान हजारीप्रसाद द्विवेदी दिलाते हैं, वो लिखते हैं "इन योगियों के संप्रदाय के सिद्धों को ही कबीरदास अवधूत कहते हैं तथापि वे साधारण योगी और अवधूत के फर्क को बराबर याद रखते हैं। साधारण योगी के प्रति उनके मन में वैसा आदर का भाव नहीं है जैसा अवधूत के बारे में है। कभी-कभी उन्होंने स्पष्ट भाषा में योगी को और अवधूत को भिन्न रूप से याद किया है। इस प्रकार कबीरदास का अवधूत नाथपंथी सिद्ध योगी है।"[9]

वहीं 'शिरीष के फूल' निबंध में कबीर की शक्ति को दिखाते हैं, उन्हें अवधूत मानते हैं।विपरीत परिस्थितियों में खुद को मजबूत बनाए रखने वाला 'फक्कड़' मानते हैं।" एक-एक बार मुझे मालूम होता है कि यह शिरीष एक अद्भुत अवधूत है। दुख हो या सुख, वह हार नहीं मानता। न ऊधो का लेना, न माथी का देना। जब धरती और आसमान जलते रहते हैं, तब भी वह हजरत न जाने कहाँ से अपना रस खींचते रहते हैं। मौज में आठों याम मस्त रहते हैं। एक वनस्पतिशास्त्री ने मुझे बताया है कि यह उस श्रेणी का पेड़ है जो वायुमंडल से अपना रस खींचता है। जरूर खींचता होगा। नहीं तो भयंकर लू के समय इतने कोमल तंतुजाल और ऐसे सुकुमार केसर को कैसे उगा सकता था? अवधूतों के मुँह से ही संसार की सबसे सरस रचनाएँ निकली है। कबीर बहुत कुछ इस शिरीष के समान ही थे, मस्त और बेपरवा, पर सरस और मादक। कालिदास भी जरूर अनासक्त योगी रहे होंगे।"[10]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की रचनाएँ विविध विधाओं में फैली हुई हैं। उनके प्रमुख निबंध-संग्रहों में अशोक के फूल (1948), विचार और वितर्क (1949), कल्पलता (1957), विचार प्रवाह (1959), कुटज और आलोक पर्व विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन निबंधों में भारतीय संस्कृति, इतिहास, समाज और साहित्य के प्रति उनकी गहरी दृष्टि स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।'साहित्यकारों का दायित्व' निबंध में वो लिखते हैं "हमें हिन्दी को एक ऐसी भाषा नहीं बना देना है, जो सर्वसाधारण के निकट अंग्रेजी की भाँति दुर्बोध्य बनी रहे या संस्कृत की ही भाँति कुछ चुने हुए लोगों के शास्त्रार्थ-विचार की भाषा बन जाए। ऐसा करके तो हम निश्चित रूप से हिन्दी का अहित करेंगे। हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिए जो मामूली-से-मामूली जनचित्त को ऊपर उठा सके। हमें तो इस भाषा को इस योग्य बना देता है कि वह साधारण-से-साधारण मजदूर से लेकर अत्यन्त विकसित मस्तिष्क के बुद्धिजीवी के दिमाग में समान भाव से विहार कर सके ।"[11]

उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास और आलोचना से संबंधित महत्वपूर्ण ग्रंथ भी लिखे। इनमें हिंदी साहित्य की भूमिका, हिंदी साहित्य का आदिकाल तथा अन्य साहित्येतिहास संबंधी ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। उनके आलोचनात्मक ग्रंथों में सूरदास, कबीर, नाथ संप्रदाय, कालिदास की लालित्य योजना, मृत्युंजय रवीन्द्र और साहित्य का मर्म जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ सम्मिलित हैं। इन कृतियों में उन्होंने भारतीय साहित्यिक परंपरा और उसके सांस्कृतिक महत्व का गहन विश्लेषण किया है।

धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में भी उनका योगदान उल्लेखनीय है। इस संदर्भ में प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, मध्यकालीन धर्म साधना और सहज साधना जैसी कृतियाँ विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं के माध्यम से उन्होंने भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है।

द्विवेदी जी की आलोचना का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि वे इतिहास, पुराण और परंपरा से प्राप्त तथ्यों को आधुनिक दृष्टि से व्याख्यायित करते हैं। उन्होंने मध्यकालीन संत साहित्य, भक्ति आंदोलन और भारतीय सांस्कृतिक धारा को नए दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया। इस प्रकार उनकी समीक्षा पद्धति में ऐतिहासिकता, सांस्कृतिक विश्लेषण और मानवतावादी दृष्टि प्रमुख प्रतिमान के रूप में उभरते हैं।

भाषा और शैली की दृष्टि से भी द्विवेदी जी की आलोचना विशिष्ट है। उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ, गंभीर और विद्वत्तापूर्ण होते हुए भी भावपूर्ण और प्रभावशाली है। वे जटिल विषयों को भी सरल और रोचक ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता रखते थे। उनके निबंधों में विचारात्मक, व्याख्यात्मक और शोधपरक शैली का सुंदर समन्वय मिलता है।"साहित्य मानव-जीवन से सीधा उत्पन्न होकर सीधे मानव-जीवन को प्रभावित करता है। साहित्य पढ़ने से हम जीवन के साथ ताजा और घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं। साहित्य में उन सारी बातों का जीवन्त विवरण होता है जिसे मनुष्य ने देखा है, अनुभव किया है, सोचा है और समझा है। जीवन के जो पहलू हमें नजदीक से और स्थायी रूप से प्रभावित करते हैं उनके विषय में मनुष्य के अनुभवों के समझने का एकमात्र साधन साहित्य है।"[12]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचनात्मक दृष्टि और उनके उपन्यासों के केंद्र में 'स्त्री' भी महत्वपूर्ण है। 'स्त्री' केवल एक पात्र नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति की गरिमा, शक्ति और मानवीय संवेदना का उच्चतम प्रतीक है। उनके समीक्षात्मक प्रतिमानों में 'मनुष्य' ही साहित्य का अंतिम लक्ष्य है, और इसी मनुष्यता की कसौटी पर स्त्री की गरिमा का मूल्यांकन होता है। द्विवेदी जी ने अपनी लेखनी के माध्यम से उस सामंती और भोगवादी मानसिकता पर तीखा प्रहार किया है, जो स्त्री को केवल भोग-विलास की वस्तु मानती थी। उन्होंने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया कि स्त्री केवल देह नहीं है, बल्कि 'देवमंदिर' के समान पवित्र सत्ता और 'शक्ति' का साक्षात् रूप है। उनकी दृष्टि में नारी का उद्धार ही वस्तुतः संपूर्ण 'लोक' के उद्धार का मार्ग प्रशस्त करता है।

द्विवेदी जी की स्त्री-विषयक दृष्टि शास्त्रीय जड़ताओं से मुक्त होकर 'लोक' की व्यापक संवेदना से जुड़ती है। 'पुनर्नवा' जैसे उपन्यासों में वे उन सामाजिक रूढ़ियों और वर्ण-व्यवस्था की कठोर जकड़नों को चुनौती देते हैं, जो स्त्री की स्वतंत्रता और उसके वैचारिक सम्मान की उपेक्षा करती हैं। उनके अनुसार, जिस समाज में नारी की इच्छाओं का दमन किया जाता है, वहाँ सामाजिक व्यवस्था में सड़ांध और जड़ता उत्पन्न हो जाती है। 'अनामदास का पोथा' में वे स्त्री को आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग की सहयात्री और मार्गदर्शक के रूप में देखते हैं, जहाँ प्रेम कोई 'पाप' नहीं, बल्कि मानवीय संभावनाओं को आलोकित करने वाला एक उज्ज्वल अनुभव है। इस प्रकार, द्विवेदी जी का भारतबोध और उनकी समीक्षा-दृष्टि स्त्री को एक स्वतंत्र, गरिमामयी और सृजनात्मक सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करती है, जो आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों के अत्यंत निकट दिखाई देती है।

"नारी-देह को देवमन्दिर मानने वाले और नारी-सौंदर्य को सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति मानने वाले रचनाकार द्विवेदी जी ने भट्टिनी, चन्द्रलेखा और जाबाला जैसी नायिकाएँ कल्पित की हैं। कालिदास की पार्वती द्विवेदी जी के लिए रूप एवं शील का प्रतिमान है। उन्होंने अनेक नारी-पात्रों के रूप में वस्तुतः पार्वती ही कल्पित की है, ऐसी पार्वती जो हमारे समय के इतिहास की उपज है। एक ओर उनका त्रैलोक्य को वशीभूत करने वाला रूप है, देव-कन्याओं जैसा शील हैं, दूसरी ओर आधुनिक युग का सन्देह वाला तर्क-वितर्क है। द्विवेदी जी के दो मन साफ़ तौर पर एक-दूसरे से टकराते हैं। एक अतीत का आस्वाद लेने वाला जो अतीत के सौंदर्य को साक्षात करना चाहता है, जो कालिदास, बाणभट्ट, श्रीहर्ष का सहचर, उनका व्याख्याता और वस्तुतः वर्तमान के लिए उनका दुभाषिया है। दूसरा मन केवल अतीत को नहीं, इतिहास की प्रक्रिया को देखता है।"[13]

आचार्य द्विवेदी की समीक्षा का एक विशिष्ट प्रतिमान उनका इतिहास-बोध है, जो किसी भी युग की रचना को केवल तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम मानकर नहीं देखता, बल्कि उसे एक अविच्छिन्न परंपरा के सतत प्रवाह के रूप में समझता है। जहाँ रामचंद्र शुक्ल ने भक्ति आंदोलन को पराजित हिंदू जाति की निराशा का परिणाम माना था, वहीं द्विवेदी जी ने इसे भारतीय लोक-चिंता का स्वाभाविक विकास सिद्ध किया। यह केवल एक ऐतिहासिक संशोधन नहीं था, बल्कि हिंदी समीक्षा में लोक को उसके वास्तविक गौरव के साथ प्रतिष्ठित करने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था।

जहां भक्ति आंदोलन की बात है वहाँ द्विवेदी के महत्वपूर्ण हो जाते हैं।रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'भक्ति काव्य यात्रा' में इसका सम्यक विवेचन किया है- "ग्रियर्सन के लिए भक्ति एक बाह्य प्रभाव है, रामचन्द्र शुक्ल के लिए बाहरी आक्रमण की प्रतिक्रिया है और हजारी प्रसाद द्विवेदी उसे महज भारतीय परंपरा का स्वतः स्फूर्त मानते हैं।"[14]

हजारीप्रसाद द्विवेदी दूसरों के मत का खंडन करते हैं,ग्रियर्सन में मत का खंडन करते हुए इस संदर्भ में लिखते हैं- "ग्रियर्सन का अनुमान है कि वह ईसाइयत की देन है। ईस्वी सन् दूसरी या तीसरी शताब्दी में नेस्टोरियन ईसाई मद्रास प्रेसीडेंसी के कुछ हिस्सों में आ बसे थे और रामानुजाचार्य को इन्हीं ईसाई भक्तों से भावावेश और प्रेमोल्लास के धर्म का संदेश मिला। यह बात एकदम गलत है। अब इस अटकल के सहारे स्थिर किए हुए मत पर कोई विश्वास नहीं करता। इसलिए इसका उत्तर देना बेकार है।"[15]

इस बहस के बारे में गोपेश्वर सिंह लिखते हैं "भक्तिकाल के बारे में 'इस्लामवाली' टिप्पणी को रामविलास शर्मा उनकी अंतिम राय नहीं मानते। उनके अनुसार शुक्ल जी के जिस उद्धरण के आधार पर आचार्य द्विवेदी तथा बाद के उनके अनुयायियों ने यह स्थापित किया कि भक्ति साहित्य शुक्ल जी के अनुसार, इस्लाम की प्रतिक्रिया है, उसमें इस्लाम शब्द कहीं आया ही नहीं है। उसमें 'मुसलमान' तथा 'मुस्लिम साम्राज्य' जैसे शब्द आए हैं। जबकि द्विवेदी जी इसका खंडन करते हुए बड़े आत्मविश्वासपूर्वक यह कहते हैं- अगर इस्लाम न भी आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता, जैसा कि आज है।"[16]

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्ति आंदोलन को केवल 'बाहरी प्रभाव' या 'प्रतिक्रिया' के संकीर्ण दायरे में नहीं बाँधा, बल्कि उसे भारतीय मनीषा के दीर्घकालिक सातत्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनका मानना था कि भारतीय जनमानस में करुणा, समता और प्रेम की जो धारा उपनिषद और बौद्ध धर्म से प्रवाहित हो रही थी, वही मध्यकाल में 'भक्ति' के रूप में प्रस्फुटित हुई। द्विवेदी जी ने तर्क दिया कि यदि इस्लाम का आगमन न भी हुआ होता, तब भी उत्तर भारत के भक्ति साहित्य का स्वरूप लगभग वैसा ही रहता, क्योंकि यह 'लोक-चित्त' की आंतरिक शक्ति का परिणाम था।

उन्होंने शास्त्रसम्मत भक्ति के समानांतर 'लोक-धर्म' की अवधारणा को विशेष महत्त्व दिया, जहाँ जाति और वर्ण के कठोर बंधन शिथिल पड़ जाते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में भक्ति आंदोलन किसी सांस्कृतिक विवशता का परिणाम नहीं, बल्कि भारतीय समाज की जिजीविषा और सामूहिक चेतना का गौरवशाली प्रमाण है।

द्विवेदी जी की समीक्षा पद्धति में शास्त्रीयता और लोक के बीच निरंतर संवाद चलता है। वे मानते हैं कि जब शास्त्र जड़ हो जाता है, तब लोक ही वह संजीवनी शक्ति बनता है जो संस्कृति को पुनर्जीवित करता है। इसी कारण उनकी आलोचना में कबीर के फक्कड़पन और सूरदास की सहजता को शास्त्रीय अलंकारों से भी अधिक महत्त्व प्राप्त होता है। उनके अनुसार समीक्षा का कार्य केवल दोषों की खोज करना नहीं है, बल्कि उस जिजीविषा की पहचान करना है जो मनुष्य को अभावों और संघर्षों के बीच भी आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है।

निष्कर्षतः, द्विवेदी जी के समीक्षा प्रतिमान हमें यह शिक्षा देते हैं कि आलोचना का अंतिम उद्देश्य परदुःखकातरता अर्थात् दूसरों के दुःख के प्रति संवेदनशीलता का विस्तार करना है। इक्कीसवीं शताब्दी के वर्तमान समय में, जब जीवन-मूल्य बिखरते हुए दिखाई देते हैं, तब द्विवेदी जी का यह मानवतावादी प्रतिमान कि "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है" आज भी हिंदी आलोचना के लिए ध्रुवतारे की भाँति मार्गदर्शन करता है।

संदर्भ सूची -

1.श्यामसुंदर दास, हिंदी शब्दसागर ,पृष्ठ 4978
2.श्यामसुंदर दास, हिंदी शब्दसागर ,पृष्ठ 3156
3.विश्वनाथ त्रिपाठी,व्योमकेश दरवेश,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ,2012,पृष्ठ 9
4.आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी,अशोक के फूल, ,सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

5.आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी,अशोक के फूल, ,सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

6.विश्वनाथ त्रिपाठी,परंपरा और आधुनिकता, व्योमकेश दरवेश,राजकमल 2012, पृष्ठ 415

7.विश्वनाथ त्रिपाठी,परंपरा और आधुनिकता, व्योमकेश दरवेश,राजकमल 2012, पृष्ठ 415

8.रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास,ग्रीन लीफ पब्लिकेशन, वाराणसी, 2015-16, पृष्ठ 67

9.हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर,राजकमल प्रकाशन,2018,पृष्ठ संख्या 36

10. हजारीप्रसाद द्विवेदी,शिरीष के फूल उपलब्ध:
https://www.hindisamay.com/content/6779/1/%E0%A4%B9%E0%A4%9C%E0%A4%BE%E0%A4%B0%E0%A5%80-%E0%A4%AA%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%B8%E0%A4%BE%E0%A4%A6-%E0%A4%A6%E0%A5%8D%E0%A4%B5%E0%A4%BF%E0%A4%B5%E0%A5%87%E0%A4%A6%E0%A5%80--%E0%A4%A8%E0%A4%BF%E0%A4%AC%E0%A4%82%E0%A4%A7-%E0%A4%B6%E0%A4%BF%E0%A4%B0%E0%A5%80%E0%A4%B7-%E0%A4%95%E0%A5%87-%E0%A4%AB%E0%A5%82%E0%A4%B2.cspx

11. हजारीप्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल,लोकभारती प्रकाशन, 2019, पृष्ठ 142

12.हजारीप्रसाद द्विवेदी,साहित्य,साहित्य सहचर,लोकभारती,1991,पृष्ठ 3

13.विश्वनाथ त्रिपाठी,व्योमकेश दरवेश,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ,2012,पृष्ठ 432,

14.रामस्वरूप चतुर्वेदी, भक्ति काव्य यात्रा, 2002

15.हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य उद्भव और विकास, पृ. 58-59

16.गोपेश्वर सिंह, भक्ति आंदोलन और काव्य, पृ. 18